आओ हम जीना सीखें

आचार्य महाश्रमण

आओ हम जीना सीखें

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : मई २०११
द्वितीय संस्करण : नवम्बर २०११
तृतीय संस्करण : जनवरी २०१२
चतुर्थ संस्करण : दिसम्बर २०१२
पंचम संस्करण : दिसम्बर २०१२
षष्टम संस्करण : अप्रेल २०१४
सप्तम संस्करण : अप्रेल २०१४

मूल्य : ३०/- (तीस रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि. उदयपुर, २४१८४८२

Aao Hum Jina Sikhain
by Acharya Mahashramana

ISBN 81-7195-075-2
Rs. 30.00

प्रस्तुति

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है जीने की कला सीख लेना। मैं स्वयं इस कला में पारंगत होना चाहता हूं। प्रस्तुत लघु कृति में मैंने सम्यक् जीवन शैली के कुछ सूत्रों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। पाठकों को कुछ आत्मपोषक और आत्मतोषक तथ्य प्रस्तुत कृति से मिलेंगे तो यह स्वयं में अधिक सार्थक हो सकेगा।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी और पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ का वरदहस्त सदा मेरे पर बना रहे, उनकी कृपा और वत्सलता मेरे पर बरसती रहे।

प्रस्तुति कृति की सामग्री के संपादन में विदुषी और स्वाध्यायप्रवण साध्वी जिनप्रभाजी ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है। प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में मुनि कुमारश्रमणजी ने अपने श्रम का नियोजन किया है। ये आगे भी विकास करते रहें। मंगलकामना।

आचार्य महाश्रमण

अनुक्रम

१. जीना एक कला है	१
२. जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि	७
३. कैसे चलें?	१३
४. कैसे बैठें?	१७
५. कैसे सोएं?	२२
६. कैसे खाएं?	२६
७. कैसे बोलें?	३१
८. कैसे सहें?	३७
९. सोच को प्रशस्त बनाएं	४४
१०. बुढ़ापा वरदान कैसे बने?	४८
११. मरने की कला	५२
१२. उसके लिए सुगति सुलभ है	५७

१

जीना एक कला है

जीवन का आदि बिन्दु है जन्म और उसका अंतिम बिन्दु है मृत्यु। जीवन का सम्बन्ध आत्मा और शरीर दोनों के साथ है। जहां केवल शरीर है वहां भी जीवन नहीं होता, जहां केवल आत्मा है वहां भी जीवन जैसी बात नहीं होती। आत्मा और शरीर दोनों की युति का नाम जीवन है। जन्म धारण करने वाला संसार का हर प्राणी जीता है, फिर भले वह मनुष्य हो, पशु-पक्षी हो अथवा पेड़-पौधे आदि हों। जीना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है कलात्मक जीवन जीना ।

जीने की कला

कलात्मक जीवन किसे कहा जाए, इस सन्दर्भ में अनेक परिभाषाएं दी जा सकती हैं। जो जीवन धर्म और कौशल से अनुप्राणित होता है, वही कलात्मक होता है। आदमी अनेक विषयों का ज्ञान करता है। वह अनेक कलाओं में दक्ष बनने का प्रयास करता है। प्राचीन साहित्य में पुरुषों के लिए शिक्षणीय बहत्तर कलाओं और स्त्रियों के सीखने के लिए चौसठ कलाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। एक व्यक्ति बहत्तर कलाओं में निष्णात बन जाता है किन्तु जीवन जीने की कला (धर्म की कला) को नहीं सीखता है तो मानना चाहिए उसने कुछ भी नहीं सीखा। आचार्य तुलसी की कृति 'व्यवहार बोध' में बताया गया है–

सभी कलाएं हैं विकलाएं, पंडित सभी अपंडित हैं।
नहीं जानते कैसे जीना, केवल महिमा मंडित हैं।।

निश्चिन्त और शान्तिपूर्ण जीवन जीएं

राजा ने किसी घटना विशेष से क्रुद्ध होकर मंत्री के लिए फांसी की सजा सुना दी। फांसी का समय छह बजे का निर्धारित किया गया। उससे दो-तीन

घंटे पूर्व मंत्री प्रसन्नचित्त बैठा था। अपने कार्य में संलग्न था। राजा ने गुप्त रूप से मंत्री की मनःस्थिति की जानकारी प्राप्त की। फांसी के निर्णीत समय के निकट आ जाने पर भी उसने मंत्री को प्रसन्नचित्त पाया तो राजा ने उसे अपने पास बुलाकर पूछा—मौत तुम्हारे सामने नाच रही है फिर भी तुम इतने प्रसन्न कैसे दिखाई दे रहे हो? उसने कहा—महाराज! मौत तो कुछ समय बाद होने वाली है। मैं पहले ही क्यों मरूं? जो समय अवशेष है उसे तो शान्ति से जीऊं। कहा भी गया है—

कल का दिन किसने देखा है?
आज के दिन को खोएं क्यों?
जिन घड़ियों में हंस सकते हैं
उन घड़ियों में रोएं क्यों?

इस सारी स्थिति से प्रभावित होकर राजा ने अपने निर्णय को बदलते हुए कहा—जो जीना जानता है उसे मैं नहीं मरवा सकता। जीने की कला का प्रमुख सूत्र है—प्रसन्न, प्रशान्त और समाधि में रहना। जो व्यक्ति हर स्थिति में प्रसन्न और शान्त रहना सीख लेता है वह जीने की कला में कुशल बन सकता है। जीने की कला को सीखने का अर्थ है जीवन की सभी क्रियाओं को सम्यक् बनाना, अपने दृष्टिकोण को सम्यक् बनाना। इस कला को सीखने के लिए सबसे खास बात यह है कि मनुष्य आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण और आत्म-समीक्षण करना सीखे। प्रसिद्ध जैन आगम दसवेआलियं की चूलिका में कहा गया है—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि।।

मध्यरात्रि के नीरव वातावरण में व्यक्ति खुले दिमाग से सोचे—मैंने क्या किया? क्या करना मेरे लिए शेष है और वह कौनसा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूं फिर भी नहीं कर रहा हूं। ऐसा चिंतन करना आत्मनिरीक्षण है, आत्मदर्शन है, आत्म संप्रेक्षा है।

आत्मदर्शन की प्रक्रिया

सामान्यतः आदमी की वृत्ति होती है कि वह स्वयं के नहीं, दूसरों के

दोष अधिक देखता है। परदोषदर्शन में आदमी अधिक रस लेता है क्योंकि उसे दूसरा व्यक्ति ही दिखाई देता है। कभी आदमी को स्वयं की दुर्बलता का अहसास भी हो जाए तो वह जैसे-तैसे उसे ढ़ांकने का ही प्रयास करता है। चिन्तन का यह कोण इस रूप में परिवर्तित हो जाए कि मुझे अपना परिमार्जन और परिष्कार करना है। मैं अपनी छोटी-बड़ी हर स्खलना के प्रति सजग रहूं। मुझे कोई दूसरा देखे या न देखे, मैं स्वयं अपने आचरण के प्रति जागरूक रहूं। भूल से प्रमाद हो जाए तो उसे दोहराने का प्रयत्न न करूं—यह आत्मदर्शन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। आत्मदर्शन की इस प्रक्रिया को अपनाने वाले व्यक्ति की जीवन-पोथी का हर पृष्ठ उजला बन सकता है।

एक महात्माजी बहुत ज्ञानी, साधक और अन्तर्मुखी थे। वे अपनी साधना में ही लीन रहते थे। चमत्कार में उनकी रुचि नहीं थी। एक बार एक लड़का उनके पास आया। वह महात्माजी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। उसने चेला बनाने की पुरजोर प्रार्थना की। महात्माजी ने सोचा—बुढ़ापा आ रहा है। एक चेला पास में होगा तो वृद्धावस्था में सहारा बनेगा। यह सोचकर उन्होंने उसे चेला बना लिया। चेला बहुत चंचल प्रकृति का था। ज्ञान-ध्यान में उसका मन नहीं लगता था। विकथा और अन्य बहिर्मुखी प्रवृत्तियों में उसका अधिकांश समय बीत जाता था। गुरु ने कई बार उसे प्रतिबोध देने की चेष्टा की। ज्ञान, ध्यान, सेवा आदि कार्यों में उसे नियोजित करने का प्रयत्न किया पर सफलता नहीं मिली।

'दुनिया चमत्कार को नमस्कार करती है' यह सोचकर एक दिन चेला महात्माजी से बोला—गुरुदेव! मुझे कोई चमत्कार सिखा दें। गुरु ने कहा—वत्स! चमत्कार हमारे लिए कोई काम की वस्तु नहीं है। उससे एक बार भले ही व्यक्ति प्रसिद्धि प्राप्त कर ले लेकिन अन्ततोगत्वा उसका परिणाम अच्छा नहीं होता।

गुरु द्वारा बहुत समझाने पर भी चेला अपनी बात पर अड़ा रहा। बालहठ के सामने गुरुजी को झुकना पड़ा। उन्होंने अपने झोले में से एक पारदर्शी डंडा निकाला। चेले के हाथ में उसे थमाते हुए कहा—यह लो चमत्कार। इस डंडे को तुम जिस किसी की छाती के सामने करोगे, उसके दोष इसमें प्रकट हो जाएंगे। चेला डंडे को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। गुरु ने चेले के हाथ में डंडा क्या

थमाया मानो बन्दर के हाथ में तलवार थमा दी। संस्कृत कवि ने सुन्दर कहा है—

मर्कटस्य सुरापानं, तत्र वृश्चिकदंशनम्।
तत्रापिभूतसंचारो, यद् वा तद् वा भविष्यति।।

बन्दर स्वभाव से ही चंचल होता है। ऊपर से उसने मदिरापान कर लिया, फिर बिच्छू ने काट खाया और फिर भूत का उसमें प्रवेश हो गया। अब उसकी चंचलता का क्या कहना! यही स्थिति चेले की हुई। चेला स्वभाव से चंचल तो था ही, डंडे ने उसकी चंचलता को और बढ़ा दिया। कोई भी व्यक्ति उस आश्रम में आता, चेला हर आगन्तुक के सीने के सामने उस डंडे को घुमा देता। फलतः उसकी कमजोरियां उस डंडे में प्रकट हो जाती और चेला उनका दुष्प्रचार शुरु कर देता। बेचारे लोग शर्मिन्दा हो जाते। कमजोरियां किसमें नहीं होती? जब तक वीतरागता की स्थिति उपलब्ध नहीं होती, तब तक हर व्यक्ति कमजोरियों से युक्त होता है। पर इस तरह कमजोरियों का खुलेआम प्रदर्शन हो, प्रचार हो, ऐसा कोई नहीं चाहता।

एक दिन कुछ व्यक्तियों ने हिम्मत बटोरकर गुरुजी को निवेदन किया—महात्मन्! आपने चेले के हाथ में डंडा क्या थमा दिया, हमारे लिए आपने परेशानियों की इमारत खड़ी कर दी। वह समय-असमय हमारी प्रतिष्ठा को दांव पर लगा रहा है। हमारे व्यक्तित्व को धूमिल बना रहा है। आप अपने चेले पर नियंत्रण कीजिए, अन्यथा ठीक नहीं होगा। गुरुजी ने चेले को समझाने की बहुत कोशिश की पर उस पर तो परदोषदर्शन का भूत सवार था। इसलिए गुरु के मांगने पर वह डंडा वापस देने के लिए तैयार नहीं हुआ।

एक दिन गुरुजी सो रहे थे। चेले के मन में आया—मैं सबके दोष देखता हूं पर अब तक गुरुजी के दोष तो देखे ही नहीं। आज अच्छा मौका है। गुरुजी सो रहे हैं। क्यों नहीं गुरुजी के सामने ही डंडा करूं और देखूं गुरुजी का असली चेहरा कैसा है? इस सोच के साथ ही उसने गुरुजी के सीने के सामने डंडा कर दिया। गुरुजी के भीतर क्रोध, मान, माया, लोभ के जो कुछ अंश बचे थे, वे उसमें प्रकट हो गए। चेले ने मन में निश्चय कर लिया कि मुझे नहीं चाहिए ऐसे गुरु। मैं तो इन्हें निर्दोष समझता था पर इनमें भी ये सब दोष छिपे हैं। ज्यों ही गुरुजी नींद से जागेंगे, नमस्कार करके इनके शिष्यत्व से छुट्टी ले लूंगा। कुछ देर बाद गुरुजी उठे। आंखें खोलते ही चेला बोला—गुरुजी! नमस्कार। मैं जा रहा

हूं। गुरुजी बोले—क्यों भाई! जाने वाली क्या बात हो गई? चेला बोला—गुरुजी! आज तक मैं आपको दोष-मुक्त समझता रहा था। आपमें भी क्रोध है, अभिमान है, ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा है, माया है, लोभ है। सब दोष विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में मैं आपके पास रहकर क्या करूंगा? गुरुजी सारी बात समझ गए। उन्होंने कहा—चेले! तुम्हारी बात सवा सोलह आना सही है। मैं भी वीतदोष नहीं बना हूं किन्तु बनने की कोशिश में अवश्य हूं। सारा प्रयत्न उसी के लिए कर रहा हूं। तुम जाना चाहते हो तो खुशी से जाओ पर जाने से पूर्व एक बार डंडा अपनी ओर भी घुमा कर देख लो, स्वयं का परीक्षण तो कर लो। चेले के बात जंच गई। उसने डंडा अपनी ओर किया तो देखा कि भीतर दोषों का अम्बार लगा है। शर्म से उसका मुंह नीचा हो गया। गुरु ने शान्त भाव से कहा—अब मेरे दोषों से तुम अपने दोषों की तुलना करो। शिष्य ने अपने दोषों की ओर दृष्टि घुमाई तो आंखें फटी-सी रह गई। कहां तो गुरुजी के सरसों के दाने जितने दोष और कहां उसके अपने पर्वत जितने दोष। वह तत्काल गुरु के चरणों में गिर पड़ा और अपनी भूल की क्षमा मांगते हुए बोला—गुरुजी! आज से मैं दूसरों के दोष देखने की भूल नहीं करूंगा। अपने ही दोष देखने का प्रयास करूंगा।

वस्तुतः अपने दोषों को देखना, अपनी कमजोरियों को पहचानना बहुत बड़ी बात है। जब तक बुराई का अहसास नहीं होता, वह छूट नहीं सकती। व्यक्ति तटस्थ और निष्कपट भाव से आत्मप्रेक्षा करे कि मेरे भीतर क्या-क्या बुराइयां हैं? मुझमें अहंकार कितना है? अनावश्यक बोलने की आदत कितनी है? प्रमाद कितना करता हूं? जब इन भूलों से परिचय हो जाए तो व्यक्ति इन्हें छोड़ने के लिए संकल्पित बने। सब बुराइयों को एक साथ न छोड़ सके तो उसके लिए क्रमिक अभ्यास करे। इस आगम वाक्य को **इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं** अर्थात् अब तक मैंने प्रमादवश जो किया है उसे पुनः नहीं करूंगा, यह स्मृति में रहे। यह सूत्र व्यक्ति के अंधकारपूर्ण मार्ग को रोशन करने वाला दीपक है।

आत्मनिरीक्षण कब करें?

व्यक्तित्व विकास के लिए आत्मनिरीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। किसी एक दिन या विशेष पर्व पर ही नहीं किन्तु प्रतिदिन के लिए करणीय है। कहा भी गया है—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं, किमद्य सुकृतं कृतम्।
आयुषः खण्डमादाय, रविरस्तमयं गतः।।

व्यक्ति सुबह उठने से लेकर रात्रि में शयनकाल तक का आत्मप्रतिलेखन करे—आज मैंने कोई पवित्र कार्य किया या नहीं? यह जीवन क्षणिक है। आयुष्य प्रतिदिन घट रहा है। सूर्य प्रतिदिन आयुष्य का एक खण्ड लेकर अस्त होता है। ऐसी स्थिति में जीवन का सुखद सहयात्री यदि कोई है तो वह सुकृत का उपार्जन ही है। जो व्यक्ति अपने जीवन में सुकृत का अर्जन करता है वही वास्तव में अपने जीवन को सफल बना सकता है।

जिस व्यक्ति की चेतना आत्मदर्शन की ओर अग्रसर हो जाती है, उसके परदोषदर्शन के संस्कार स्वतः छूट जाते हैं। वह विधायक भावों में रमण करने लगता है और अपने जीवन को सही दिशा की ओर मोड़ता हुआ औरों के लिए भी आदर्श बन जाता है। अपेक्षा है आत्मदर्शन की वृत्ति जागृत हो।

२
जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

मनुष्य दुनिया का एक सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसके पास पांच इंद्रियां हैं। वह आंख से देखता है, नाक से सूंघता है, कान से सुनता है, जिह्वा से चखता है और त्वचा से स्पर्श करता है। इनके अतिरिक्त उसके पास एक मन है जो इंद्रियों द्वारा गृहीत वस्तुओं पर चिन्तन-मनन कर सकता है। पांचों इंद्रियों में यों तो हर इंद्रिय की अपनी उपयोगिता है पर चक्षुरिन्द्रिय का मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है और सर्वाधिक उपयोग है। कहा भी जाता है कि जिसके पास आंखें नहीं होती हैं, उसके लिए संसार सूना हो जाता है। जिन व्यक्तियों के पास आंखें नहीं होती हैं उन्हें बोलचाल की भाषा में अंधा कहा जाता है और परिष्कृत भाषा में सूरदास या प्रज्ञाचक्षु कहा जाता है।

आंख का उपयोग

आंख होना एक बात है और उसका उपयोग करना दूसरी बात है। जिनके पास आंखें नहीं हैं उनके लिए उपयोग अनुपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। जो चक्षुष्मान हैं, जिनमें देखने की सामर्थ्य है, उनके लिए विचारणीय है कि वे आंखों का सम्यक् उपयोग करते हैं या दुरुपयोग करते हैं। एक व्यक्ति संतों के दर्शन करता है, अच्छा साहित्य पढ़ता है, धार्मिक पुस्तकें पढ़ता है, अच्छे दृश्यों का अवलोकन करता है, अनिमेष प्रेक्षा करता है—यह आंखों का सदुपयोग है। आंखों का दुरुपयोग भी हो सकता है। एक व्यक्ति आंखों से किसी को बुरी दृष्टि से देखता है, खराब दृश्य देखता है, अश्लील साहित्य पढ़ता है, जीवन को पतन की ओर ले जाने वाले दृश्यों को देखता है—यह आंखों का दुरुपयोग है।

आंखें बहुत मूल्यवान वस्तु हैं। विचारणीय बात यह है कि जिनको आंखें

प्राप्त हैं वे उनका यथार्थ मूल्यांकन करते हैं या नहीं? आंखों का मूल्य उनसे पूछा जाए, जिनके पास आंखें नहीं हैं। आंखहीन व्यक्ति की दुनिया बहुत छोटी होती है।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

महात्मा बुद्ध के पास कुछ व्यक्ति आए और बोले—भन्ते! हमारे गांव में एक ऐसा व्यक्ति है जो सूर्य को नहीं मानता, प्रकाश को नहीं मानता। हम सबने उसको बहुत समझाया कि भैया! सूरज होता है, प्रकाश होता है, सुबह होती है पर वह तो किसी भी शर्त पर यह मानने के लिए तैयार नहीं है।

बुद्ध ने पूछा—उसके पास आंखें हैं या नहीं?

भन्ते! आंखें तो नहीं हैं। वह अन्धा है।

बुद्ध ने समाधान की भाषा में कहा—फिर तुम मनाने की चेष्टा क्यों करते हो? उसे वैद्य के पास ले जाओ। आंखों का इलाज करा दो। आंखों का आवरण हट जाएगा, रोशनी आ जाएगी तो स्वयं ही मानने लग जाएगा। ऐसा ही किया गया। दृष्टि मिलते ही उस व्यक्ति ने स्वतः यथार्थ का बोध कर लिया। कई बार दृष्टि प्राप्त व्यक्ति भी रंगीन चश्मा लगाकर यथार्थ का बोध नहीं कर पाता। जिस रंग का चश्मा पहन लेता है उसे दुनिया वैसी ही दिखाई देने लगती है। पीलिये के रोगी को प्रत्येक वस्तु में पीलापन नजर आता है। अपेक्षा है व्यक्ति यथार्थ दर्शन का प्रयत्न करे। जो जिस रूप में है उसे उसी रूप में जाने। अधिक जानना भी ठीक नहीं। कम जानना भी ठीक नहीं। अधिक जानना और कम जानना दोनों ही अयथार्थ हैं। जो वस्तु जिस रूप में है, उसे उसी रूप में जानना सम्यक् ज्ञान होता है।

दृष्टि का मूल्य

किसी भी क्रिया की निष्पत्ति के पीछे दृष्टिकोण बहुत बड़ा निमित्त बनता है। बिल्ली अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है पर दोनों की पकड़ में बहुत बड़ा अन्तर होता है। बच्चे के प्रति ममता का भाव है, चूहे के प्रति क्रूरता का। बच्चे को बचा लेती है। चूहों को मार देती है। अन्तर्दृष्टि का अन्तर है। दृष्टि में अन्तर आते ही परिणाम में अन्तर आ जाता है। एक शल्यचिकित्सक भी पेट को औजार से चीरता है और एक डाकू भी पेट को छूरा भोंककर चीरता है। पेट को चीरने की क्रिया एक होने पर भी दृष्टि की

समानता नहीं है। डॉक्टर की दृष्टि व्यक्ति को जीवनदान देने पर टिकी है। डाकू की दृष्टि जीवन को लूटने पर टिकी है। दृष्टि में बदलाव आते ही सब कुछ बदल जाता है।

राज्य का मूल्य

मनुष्य जीवन को बहुमूल्य और दुर्लभ माना जाता है। इसका सही मूल्यांकन होना जरूरी है। पदार्थपरक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति मानव जीवन की महत्ता का बोध नहीं कर सकता। एक राजा संन्यासी के पास गया। नमस्कार कर अहंकार की भाषा में कहने लगा—महात्माजी! आप मुझे जानते हैं या नहीं? मैं सम्राट हूं। मेरे पास विशाल साम्राज्य है। बहुत बड़ी सेना है। अकूत खजाना है। संन्यासी साधक थे, ज्ञानी थे। वे राजा के अहंकार की भाषा समझ रहे थे। बिना किसी प्रतिक्रिया के चुपचाप सुनते रहे। जब राजा बोलकर मौन हो गया तो संन्यासी ने उसके अहं पर चोट करते हुए कहा—राजन्! तुम्हारा व्याख्यान तो मैंने बहुत सुन लिया पर मेरी दृष्टि में तो तुम्हारे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी से अधिक नहीं है। राजा भौंचक्का रह गया। इतने बड़े साम्राज्य का मूल्य दो गिलास पानी कैसे हो सकता है? संन्यासी ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—राजन्! कल्पना करो, तुम कहीं घूमने निकले। बीहड़ जंगल में चले गए। साथी कोई पास में न हो। गर्मी का मौसम। भयंकर प्यास लग जाए। पानी कहीं दिखाई न दे। प्राण कंठों में आ जाएं। उस समय संयोगवश कोई व्यक्ति आए और एक गिलास ठंडा पानी तुमको पिलाए तो तुम उसे क्या दोगे?

राजा बोला—महात्मन्! प्यास से मेरे प्राण निकल रहे हों, मौत सिर पर मंडरा रही हो, उस समय मुझे कोई एक गिलास पानी पिला दे तो मैं उसे आधा राज्य दे दूंगा।

संन्यासी ने कहा-राजन्! फिर एक कल्पना करो—तुम घूमने निकले। घोड़ा उल्टी गति का था। तुम्हें सघन जंगल में ले आया। साथी सब पीछे छूट गए। भयंकर गर्मी का समय। तपती दुपहरी। अकस्मात् तुम्हारे शरीर में मूत्रावरोध की बीमारी हो गई। प्राणान्त वेदना हो रही थी। उस समय एक वैद्य आए। तुम्हें ऐसी दवा दे जिससे मूत्रावरोध समाप्त हो जाए। एक गिलास जितना प्रस्रवण हो जाए। तुम्हें आराम मिले। स्वस्थता की अनुभूति हो। उस

समय तुम उसे क्या दोगे?

संन्यासी—महात्मन्! उसे मैं प्रसन्न होकर आधा राज्य दे दूंगा।

संन्यासी ने अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा—राजन्! समझे या नहीं? एक गिलास पानी पिलाने का आधा राज्य और एक गिलास पानी निकालने का आधा राज्य। कुल मिलाकर पूरे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी जितना ही तो हुआ। फिर तुम किस बात का अहं करते हो? राजा नतमस्तक हो संन्यासी के चरणों में गिर पड़ा। अहं विलय का अनूठा सूत्र उसके हाथ लग गया।

अहंकार पतन का मार्ग है। अहंकारी व्यक्ति यथार्थ से अनभिज्ञ रहता है। औरों के सामने व्यक्ति अहंकार का प्रदर्शन कर भी सकता है पर मौत के आगे तो किसी का अहं चलता नहीं। कोई यह सोचे कि मेरे पास सुरक्षा की बहुत बड़ी व्यवस्था है, मौत मेरा क्या बिगाड़ेगी? क्या वह मौत के मुंह में जाने से बच सकता है?

ज्ञानीजन कहते हैं—व्यक्ति किस बात का अहं करे? आज जिसे मनुष्य जन्म प्राप्त है, वह कितनी बार बेर की गुठली में पैदा हुआ होगा? कितनी बार खजूर की गुठली में जन्म लिया होगा? कितनी बार सांप, बिच्छू बना होगा? कितनी बार पेड़-पौधा बना होगा? जो व्यक्ति सच्चाई को समझ लेता है, उसका अहं विगलित हो जाता है।

मानव की महत्ता

व्यक्ति अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाए, चिन्तन को प्रशस्त बनाए और मनुष्य जीवन की महत्ता को समझे, यह अपेक्षित है। इन्सान में भगवान बनने की सामर्थ्य है। आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। पशु-पक्षी जगत में वह नहीं है। देव भी भगवत्ता को प्राप्त नहीं हो सकते। एक मात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो विकास के परम शिखर को छू सकता है। इस दृष्टि से मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य में सोचने की सामर्थ्य है, विवेक-चेतना है। वह धर्म का आचरण कर सकता है। मनुष्य और पशु के बीच भेदरेखा खींचने वाला धर्म ही है। नीतिकारों ने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनानि, सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणां।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना।।

आहार, निद्रा, भय, मैथुन—इन चार बातों की मनुष्य और पशु में समानता है। एक धर्म अथवा विवेक ही ऐसा तत्त्व है, जिसके आधार पर पशु से मनुष्य की अलग पहचान होती है।

मनुष्य की दृष्टि में ही सृष्टि है। चिन्तनीय बिंदु है कि दृष्टि कहां टिकी है? सद्गुणों पर या दुर्गुणों पर? संस्कृत साहित्य में इस सन्दर्भ में एक कहानी आती है।

एक बार मानसरोवर का हंस उड़ते-उड़ते एक तालाब में चला गया। तालाब में कई बगुले बैठे थे। उन्होंने उस अजनबी पक्षी को देखा तो एक साथ कई प्रश्न पैदा हो गए। कवि ने एक श्लोक द्वारा बगुलों और हंस के संवाद को बहुत ही रोचक प्रस्तुति दी है-

कस्त्वं लोहितलोचनास्यचरणो हंसः कुतो मानसात्,
किंतत्रास्ति सुवर्णपंकजवनान्यम्भः सुधासन्निभम्।
मुक्ताशुक्ति रथास्ति शंखनिवहा वैडूर्यरोहाः क्वचित्,
शम्बूकाः किमु सन्ति नेति च बकैराकर्ण्य हिः हिः कृतम्।।

बगुलों ने पूछा—भैया! तुम कौन हो? तुम्हारा मुंह लाल है। पांव लाल हैं। आंखें भी लाल हैं। हम तुम्हारा नाम जानना चाहते हैं।

हंस—मैं हंस हूं। राजहंस के रूप में मेरी पहचान है।

बगुले—तुम कहां से आ रहे हो?

हंस—मानसरोवर से।

बगुलों के लिए तो मानसरोवर नाम भी नया था। पुनः जिज्ञासा की—मानसरोवर में क्या है?

हंस—मानसरोवर में स्वर्णकमल हैं। उसका पानी अमृत जैसा मीठा है। वहां मोती, सीप, शंख, वैडूर्य एवं रत्न आदि भी होते हैं।

बगुले—अरे! यह तो बताओ कि वहां मछलियां होती हैं या नहीं?

हंस—मछलियां तो वहां नहीं हैं।

बगुले—छीः छीः। तब तो बेकार है मानसरोवर। मछलियां नहीं हैं तो उस मानसरोवर का मूल्य ही क्या?

बगुलों की दृष्टि में मछलियों का मूल्य सर्वोपरि था। मोती, सीप, शंख,

वैडूर्य आदि का उनके लिए क्या प्रयोजन? स्वर्णकमल से उन्हें क्या लेना? तात्पर्य की भाषा में कहें तो एक हंस और बगुले की दृष्टि का भेद था। हंस की दृष्टि रहती है मोती पर, बगुलों की दृष्टि रहती है मछलियों पर।

हम विचार करें कि आदमी की दृष्टि कहां टिकी है—गुणों पर या बुराइयों पर? सद्गुण ग्राह्य हैं और दुर्गुण त्याज्य। क्रोध करना, अपशब्द का प्रयोग करना, असत्य बोलना, धोखा देना, चोरी करना, असंयम करना—ये दुर्गुण हैं। विनम्र रहना, किसी को कष्ट न देना, असत्य न बोलना, उत्तेजित न होना, सरल होना—ये सद्गुण हैं। सद्गुण संजोकर व्यक्ति महान बन सकता है और दुर्गुण संजोकर व्यक्ति अधम बन सकता है। अपेक्षा है महान बनने के बीजों पर दृष्टि रखते हुए उन्हें पल्लवित, पुष्पित और फलित करने की दिशा में गति हो और पतन की ओर ले जाने वाले बीजों को नष्ट करने का प्रयत्न हो। जीवन की सफलता का यह बीजमंत्र है।

३
कैसे चलें ?

एक संस्कृत कवि ने सुन्दर कहा है–

हस्ती स्थूलवपुः स चांकुशवशः किं हस्तिमात्रोंऽकुशः।
दीपे प्रज्ज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो नगः।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।

स्थलू हाथी को एक छोटा सा अंकुश वश में कर सकता है, एक नन्हा सा दीपक सघन अंधकार का हरण कर सकता है, बड़े-बड़े पहाड़ों को छोटा सा वज्र धराशायी कर सकता है। इसलिए 'यह छोटा है' यह समझकर हर किसी की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

मानव जीवन बहुत कीमती है। इसको सजाने-संवारने के लिए छोटी लगने वाली बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। कैसे उठना, कैसे बैठना, कैसे चलना, कैसे बोलना आदि बातें बहुत छोटी लगती हैं पर जीवन-महल को खड़ा करने वाली नींव की ईंटें भी ये ही हैं।

चलने में विवेक

हम चलने की क्रिया पर विचार करें। चलना जीवन की एक अपेक्षित क्रिया है। बच्चा जन्म लेता है। कुछ समय बाद उसे बैठना सिखाया जाता है। फिर उसे अंगुली पकड़कर चलना सिखाया जाता है। जब वह ठुमक-ठुमक कर चलता है, तब उसे देखकर सभी आह्लादित होते हैं। चलना अर्थात् गति करना। गति दो प्रकार की होती है। एक गति है–पैरों से चलना। दूसरी गति है–जीवन को विकास की दिशा में आगे बढ़ाना। संसार के सभी प्राणी अपने-अपने ढ़ंग से गतिक्रिया करते हैं। चलना एक प्रकार की गति है, विकास का

संकेत है किन्तु इस गति में भी विवेक का होना जरूरी है। विवेक अर्थात् कब चलना, कैसे चलना, क्यों चलना आदि बातो ंकी जानकारी आवश्यक है। पहली बात है—बिना प्रयोजन न चले। बिना प्रयोजन वही चलता है जो समय का मूल्य नहीं आंकता। अपेक्षा हो तो मीलों चलना भी सार्थक है और अनपेक्षित एक कदम चलना भी समय को जाया करना है। दूसरा प्रश्न है—प्रयोजन से चलें तो कैसे चलें? आदमी उद्देश्य विशेष के साथ चलने के लिए प्रवृत्त हो तो सबसे पहले इष्टमंत्र का स्मरण करे ताकि प्रवृत्ति के साथ मंगल जुड़े और चित्तवृत्ति मंगल से भावित हो जाए। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञ हरियाणा में विहार कर रहे थे। रास्ते में एक संत दुर्घटनाग्रस्त हो गए। उनके कई जगह चोटें आई। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने उस समय एक मंत्र दिया और कहा—यात्रा से पूर्व इस मंत्र का स्मरण कर लेना चाहिए ताकि विघ्न-बाधाओं से बचा जा सके। चलने का विवेक अहिंसा की साधना को भी पुष्ट कर सकता है। दशवैकालिक सूत्र में चलने का विवेक देते हुए कहा गया है—साधु जल्दी-जल्दी न चले, ऊंचा मुंह करके न चले, बातें करता हुआ न चले, हंसता हुआ न चले, स्वाध्याय करता हुआ न चले, व्यग्रचित्त से न चले आदि। एक राजस्थानी दोहा है—

नीचै देख्यां चार गुण, गमी वस्तु मिल जाय।
दया पळै, हिंसा टळै, दृष्टि दोष टळ जाय।।

नीचे देखकर सावधानी पूर्वक चलने से चार गुण निष्पन्न होते हैं—खोई हुई वस्तु उपलब्ध हो सकती है, दया भावना पुष्ट हो सकती है, हिंसा से बचाव हो सकता है और दृष्टिदोष टल सकता है। चलते-चलते इधर-उधर दृष्टिक्षेप करने वाले के प्रति चोर, जुआरी, कामातुर आदि होने की आशंकाएं भी हो सकती हैं। साधु के लिए नियम है कि वह ईर्यापूर्वक चले अर्थात् शरीर प्रमाण भूमि को देखते हुए सावधानीपूर्वक चले, इन्द्रिय-विषयों का वर्जन करता हुए चले। चलते समय मात्र चलने का ही ध्यान रखे।

प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में 'गमनयोग' शब्द प्रयुक्त होता है। गमनयोग से तात्पर्य है—मात्र गति पर ही ध्यान केन्द्रित रखना। चलते समय बात करना, चिन्तन करना आदि क्रियाएं सामान्यतः नहीं होनी चाहिए। साधु को कैसे चलना चाहिए? इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—**उवउत्तेरियं रिए** साधु सावधानी से दत्तचित्त होकर उपयोगपूर्वक चले।

सड़क पर चलने के कुछ नैतिक नियम भी हैं। सड़क के बीच में नहीं चलना चाहिए। कभी-कभी थोड़ी सी सुविधा के लिए आदमी जानता हुआ भी विपरीत साइड में चलने लगता है किन्तु नियम का अतिक्रमण कभी-कभी खतरे की घंटी बन सकता है। सड़क के एक ओर लिखा होता है—सावधानी हटी, दुर्घटना घटी। इस वाच्य को ध्यान में रखते हुए आदमी सावधानीपूर्वक चले।

अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान

गति का दूसरा अर्थ है—जीवन में विकास करना। यह भी एक प्रकार की गति है। भारतीय संस्कृति 'चरैवेति' को बहुत महत्त्व देती है। उसके अनुसार जो चलता है उसका भाग्य भी उसके साथ चलता है और जो ठहरता है उसका भाग्य भी ठहर जाता है। यहां चलने का अर्थ है—अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान करना। इस प्रस्थान के लिए जरूरी है जीवन को ज्ञान के प्रकाश और आचरण की सौरभ से भरा जाए।

एक राजा को अपने तीन राजकुमारों में से एक को उत्तराधिकार के लिए चयनित करना था। वह चयन उम्र के आधार पर नहीं, योग्यता के आधार पर करना चाहता था। उसने तीनों राजकुमारों को बुलाकर एक-एक रुपया हाथ में थमाया और आदेश दिया कि कल सायं आठ बजे तक इस रुपये से तीनों के महल मुझे भरे हुए मिलने चाहिए। तीनों राजकुमार अपनी-अपनी बुद्धि के घोड़े दौड़ाने लगे। बड़े राजुकमार ने सोचा—एक रुपये से महल भरना सम्भव नहीं है। मैं जुआ खेलूं। एक के अनेक रुपये हो जाएंगे तो महल को भर दूंगा। इस सोच के साथ जुआ खेला। पासा उल्टा पड़ा और वह एक रुपया भी गंवा बैठा। दूसरे राजकुमार ने सोचा—एक रुपये से क्या मिल सकता है। कोई अच्छी वस्तु तो मिल नहीं सकती। इससे गांव का कूड़ा-कचरा अवश्य मिल सकता है। इस चिंतन के साथ उसने सफाई-कर्मचारी को वह रुपया दिया और पूरे महल में कचरा, गन्दगी भरवा ली। तीसरा राजकुमार सूझबूझ का धनी था। वह बाजार गया। उस एक रुपये से कुछ मोमबत्तियां, कुछ अगरबत्तियां और कुछ फूलमालाएं खरीद लाया। महल के हर कोने में एवं द्वार पर उन्हें स्थापित कर दिया। ठीक समय पर राजा महलों का निरीक्षण करने निकला। बड़े पुत्र का महल खाली था। पुत्र उदास था। पूछने पर उसने अपनी राम कहानी सुना दी। राजा आगे बढ़ा। मझले पुत्र के महल के पास जाते ही राजा को बदबू आने

लगी। उसे कपड़े से नाक ढंकना पड़ा। पूछने पर उसने बताया—पिताजी! आपके द्वारा प्रदत्त एक रुपये में गन्दगी एवं कचरे के सिवाय और मिल भी क्या सकता था और आपके आदेशानुसार महल को भरना जरूरी था। इसलिए मैंने महल को कचरे से भर दिया। राजा छोटे राजकुमार के महल की ओर ज्योंही बढ़ा उसे दूर से ही प्रकाश दिखाई दिया। मन को आह्लादित करने वाली भीनी-भीनी महक आने लगी। छोटे राजकुमार का महल सौरभ और प्रकाश से भरा देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने छोटे राजकुमार की बुद्धि की प्रशंसा की और उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

वस्तुतः जीवन को मंजिल की ओर गतिमान करने के लिए ज्ञान का प्रकाश और आचरण की सौरभ चाहिए। ज्ञान के आलोक में व्यक्ति अपना आत्मनिरीक्षण करता रहे और सदाचरण की सौरभ से जीवन को महकाता रहे।

जो व्यक्ति उदारचेत्ता होता है, ईमानदार होता है, नशामुक्त जीवन जीने वाला होता है, विनम्र होता है, मृदु होता है, शांत स्वाभावी होता है, बड़ों का आदर करना जानता है, औरों के कल्याण की भावना रखता है, सरल होता है, उसका जीवन सद्गुणों की सौरभ से भरा होता है। अपनी प्रज्ञा के प्रकाश में व्यक्ति स्वयं झांके और देखे उसके जीवन में इन सद्गुणों की सौरभ है या नहीं? यदि है तो निश्चित ही उसकी गति प्रशस्त है।

४
कैसे बैठें?

जीवन की कला के साथ अनेक विषय जुड़े हुए हैं। उनमें एक विषय है—कैसे बैठें? बैठना एक कला है। कब, किसके सामने, कैसे बैठना चाहिए—इसका अपना विज्ञान है। बड़ों के सामने कैसे बैठें? छोटों के सामने कैसे बैठें? किस कार्य को करते समय किस मुद्रा में बैठें? ध्यान के समय किस आसन में बैठें? प्रवचन के समय किस स्थिति में बैठें? जो व्यक्ति इन बातों की जानकारी रखता है, उसका बैठना कलापूर्ण हो सकता है।

एक आदमी बैठता है। उसमें चंचलता झलकती है। वह कभी इधर देखता है, कभी उधर देखता है, कभी आगे झुकता है, कभी पीछे झुकता है। कभी शरीर को मोड़ता है, कभी अनावश्यक हाथ-पैर का संचालन करता है। यह चंचलता है। अनावश्यक चंचलता अवांछनीय होती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो हाथ पर हाथ दिए बैठे रहते हैं या निरर्थक बातें करते रहते हैं। कोई उद्देश्य नहीं, कोई लक्ष्य नहीं। यह भी उचित नहीं है। मनुष्य को किसी न किसी सत्कार्य में लगे रहना चाहिए। कौन किस कार्य में लगे यह अपनी-अपनी योग्यता और रुचि पर निर्भर करता है। जो साहित्य पठन में रुचि रखे, वह साहित्य का अध्ययन करे। जो लेखन में रुचि रखे, वह लेखन-कार्य करे। इस प्रकार के कार्य जिनके लिए सम्भव नहीं हैं वे किसी मंत्र का जप करना शुरु कर दें। हाथ की अंगुलियों पर जप किया जा सकता है। इससे समय का सदुपयोग होगा और आत्मशुद्धि का विकास होगा। जप साधना का सुगम उपाय है। आप जहां कहीं भी बैठे हैं, समय मिला कि आंख मूंद कर जप करना शुरु कर दिया। इसमें न भूखे रहना आवश्यक है न और कोई कठिन तपश्चरण आवश्यक है। यह समय को सार्थक बनाने का उपाय है। आप ट्रेन में यात्रा कर रहे हैं, खाली

बैठे हैं, वहां भी अध्ययन, जप आदि के द्वारा समय को सार्थक बनाया जा सकता है।

ध्यान में कैसे बैठें?

सीधा बैठना, तनावमुक्त होकर बैठना ध्यान की पहली शर्त है। ध्यान के लिए कई विशेष आसन भी निर्दिष्ट हैं—पद्मासन, वज्रासन, सुखासन आदि। यों तो ध्यान के लिए किसी विशेष आसन की अनिवार्यता नहीं है। जिस आसन में आदमी लम्बे काल तक बैठ सके, आराम से बैठ सके और प्रयोग कर सके, वही आसन ध्यान के लिए उपयोगी है।

वज्रासन को ध्यान की दृष्टि से तो उपयोगी माना ही गया है, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसे उपयोगी माना गया है। भोजन के बाद इस आसन में कुछ देर तर बैठना पाचन-तंत्र के लिए लाभदायक है।

बैठने की मुद्रा भी ठीक होनी चाहिए। चिंता की मुद्रा न हो, आवेश की मुद्रा न हो, प्रसन्नता की मुद्रा हो। मुद्रा के साथ भावों का गहरा संबंध है। भीतर में आक्रोश है तो चेहरे की मुद्रा भिन्न प्रकार की होगी। भीतर में प्रसन्नता है तो चेहरे की मुद्रा भिन्न प्रकार की होगी। यों भी कहा जा सकता है कि मुद्रा ठीक है तो हमारे भाव भी अच्छे हो सकते हैं और मुद्रा ठीक नहीं है तो भाव भी विकृत हो सकते हैं।

अच्छी संगति में बैठें

किसके पास बैठना है, इसका भी अपना महत्त्व है। 'संगत रंगत लाती है' यह एक सार्थक कहावत है। व्यक्ति को जैसी संगति मिलती है, उसके जीवन की दिशा उसी ओर मुड़ जाती है। इसलिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारी संगति कैसी हो? एक राजस्थानी दोहा है-

ज्ञानी स्यूं ज्ञानी मिलै, करै ज्ञान की बात।
मूरख स्यूं मूरख मिलै, कै मुक्का कै लात।।

ज्ञानी व्यक्ति की संगति ज्ञान की चेतना जगाती है और मूर्ख की संगति बुराइयों की ओर धकेलती है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह सच्चे और अच्छे आदमी के पास अपनी ऊठ-बैठ रखे। संतों की सन्निधि में बैठने का अपना मूल्य है। भले उनकी बात समझ में आए, न आए पर उनकी सन्निधि में जो समय बीतता है वह शुभ होता है। उस अवधि में

व्यक्ति सहज ही अनेक बुराइयों से बच जाता है। संतों की सन्निधि में बैठा हुआ व्यक्ति सामान्यतः न झूठ बोलता है, न चोरी करता है, न नशा करता है, न गुस्सा करता है। यह बहुत बड़ा लाभ है। जीवनोपयोगी ज्ञान भी मिल सकता है इसलिए जहां भी मौका मिले, सत्संग का लाभ उठाना चाहिए।

सभा में कैसे बैठें?

किसी प्रवचन सभा में आदमी कैसे बैठे? इसका भी अपना प्रोटोकोल है। जब व्यक्ति श्रोता बनकर बैठता है तो श्रोता का वक्ता के साथ तादात्म्य भाव जुड़ना आवश्यक है। श्रोता वक्ता को देवता के समान माने। जैसे देव की पूजा एकाग्रता के साथ की जाती है, वैसे ही श्रोता वक्ता को देवता की भांति ध्यान से सुने। उसके साथ गहरा तादात्म्य भाव स्थापित करे। ऐसा करके ही वह प्रवचन का रसास्वादन कर सकता है और उसका आनन्द ले सकता है। वक्ता भाषाण दे और श्रोता नींद लेनी शुरु कर दे या बातें करनी शुरू कर दे तो वक्ता का उत्साह मंद हो जाता है। ध्यान से सुनने वाले श्रोता मिलें तो वक्ता का उत्साह द्विगुणित हो जाता है और अधिक अच्छे तरीके से वह अपनी बात प्रस्तुत कर सकता है। श्रोता कैसा होना चाहिए, इस सन्दर्भ में एक उदाहरण मननीय है—

एक कलाकार था। सुन्दर मूर्तियों का निर्माण करता था। एक बार एक ही आकार की तीन मूर्तियों को बनाकर वह राजा के पास ले गया। राजा के सामने तीनों मूर्तियां प्रस्तुत कीं। मूर्तियों की सुघड़ता और सौंदर्य पर राजा मुग्ध हो गया। उसने तीनों मूर्तियों को खरीदने की बात कही। कलाकार बोला—राजन्! ये मूर्तियां मैं आपको उपहृत करने आया हूं, बेचने नहीं किंतु आपसे मैं जानना चाहता हूं कि आपकी दृष्टि में इन तीनों मूर्तियों का क्या मूल्य हो सकता है?

राजा ने एक बार पुनः तीनों मूर्तियों को ध्यान से देखा। देखने के बाद कहा—कलाकार! इनका सही मूल्य बताना तो मेरे लिए कठिन है किन्तु इतना मैं अनुमान के आधार पर कह सकता हूं कि इन तीनों का मूल्य एक समान होना चाहिए।

कलाकार ने कहा—क्षमा करें महराज! आपका अनुमान सही नहीं है। तीनों के मूल्य में बहुत बड़ा अन्तर है। राजा ने कलाकार को यह अन्तर स्पष्ट

करने के लिए निर्देश दिया।

कलाकार ने एक तिनका हाथ में लिया और एक मूर्ति के कान में डालने का प्रयास किया। तिनका अन्दर नहीं गया। बाहर ही रह गया। कलाकार बोला—महाराज! इस मूर्ति का मूल्य पचास रुपये। दूसरी मूर्ति के कान में तिनका डालने का प्रयास किया। तिनका अन्दर चला गया लेकिन एक कान से गया और दूसरे कान से निकल गया।

कलाकार ने कहा—महाराज! इसका मूल्य सौ रुपये। तीसरी मूर्ति के कान में तिनका डाला गया। वह दूसरे कान से निकला नहीं, नीचे तक चला गया।

कलाकार ने कहा—महाराज! इस मूर्ति का मूल्य पांच सौ रुपये हैं।

राजा कलाकार के इस चातुर्य पर बहुत प्रसन्न हुआ। कलाकार की पीठ थपथपाते हुए राजा ने कहा—कलाकार! मैं समझ गया कि इन मूर्तियों के निर्माण के पीछे तुम्हारा क्या उद्देश्य रहा है। तुमने इन तीन मूर्तियों के माध्यम से जनता को व्यावहारिक ढ़ंग से प्रशिक्षण देना चाहा है। तुम इन मूर्तियों के द्वारा यह समझाना चाहते हो कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं—कुछ श्रोता पहली मूर्ति के समान होते हैं। वे सभा में जाते हैं पर इधर-उधर की बातें करने में लग जाते हैं। उनका ध्यान कहीं और टिका रहता है। प्रवचनकार के शब्द उनके कानों में प्रवेश नहीं करते। दूसरी किस्म के श्रोता वे होते हैं जो प्रवचन को सुन तो लेते हैं पर मनन नहीं करते। तीसरे प्रकार के श्रोता वे होते हैं जो बात को ध्यान से सुनते हैं, उस पर मनन करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं। वक्ता की बात सीधी उनके गले उतर जाती है।

एकाग्रचित्त बैठकर सुनने के अनेक लाभ हो सकते हैं। श्रोता वक्ता को ध्यान से सुनकर अच्छा वक्ता बन सकता है। किस सन्दर्भ में किस बात को किस रूप में वक्ता प्रस्तुत करता है, इसे एकाग्र स्थिति में बैठकर ही समझा जा सकता है। सुनकर अपनी भाषा का भी परिष्कार किया जा सकता है। कभी-कभी ऐसी बात सुनने में आ सकती है जो अपनी समस्याओं के समाधान का हेतु बन सकती है।

व्यक्ति कहां बैठे? यह प्रश्न व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति ऐसे स्थान पर न बैठे, जहां बैठने से किसी दूसरे को व्यवधान हो। ऐसे स्थान पर न बैठे, जहां से उसे बार-बार उठाना पड़े। ऐसे

स्थान पर न बैठे, जहां बैठना दूसरों को अखरता हो। ऐसे स्थान पर न बैठे, जहां बैठने से दूसरों को आने-जाने में संकोच हो। ऐसे स्थान पर न बैठे, जहां चींटी आदि जीव-जन्तु घूम रहे हों। ऐसे स्थान पर न बैठे जहां बीज, हरियाली आदि बिखरी हों। बैठने का यह उपयोग जीव हिंसा के पाप से भी व्यक्ति को सहज बचा सकता है।

आचार्यश्री तुलसी अनेक बार हम लोगों को प्रशिक्षण दिया करते थे कि सभा में से उठकर जाना हो या सभा के बीच जाकर कहीं बैठना हो तो कैसे चलना चाहिए। वे कहते—पहले हाथ जोड़कर, झुककर रास्ता मांगो, फिर आगे बढ़ो। ऐसा न हो कि तुम्हारे चलने से किसी को ठोकर लग जाए या सामने वाला व्यक्ति लुढ़क जाए।

जो व्यक्ति बैठने की कला से अनभिज्ञ होता है,वह अपनी कलाओं एवं विद्याओं का ज्ञाता होकर भी तिरस्कार का पात्र बन सकता है। अतः आवश्यक है कि बैठने की मुद्रा कलापूर्ण हो।

६
कैसे सोएं?

शरीर तंत्र को स्वस्थ व सक्रिय रखने के लिए निद्रा जरुरी है। नींद एक प्रकार का विश्राम है। व्यक्ति प्रवृत्ति करता है। प्रवृत्ति से थकान आती है। थकान के बाद व्यक्ति विश्राम की अभिलाषा करता है। विश्राम के लिए वह निद्रादेवी की गोद स्वीकार करता है। कौन व्यक्ति कितनी नींद ले इस सम्बन्ध में कोई निश्चित अवधारणा नहीं है। यद्यपि अवस्था के साथ नींद का विचार किया गया है पर उसमें भी कोई नियामकता नहीं है। कुछ व्यक्ति बहुत कम नींद लेकर भी ताजगी का अनुभव करते हैं तो कुछ लोग प्रचुर नींद लेकर भी अलसाए रहते हैं। योगी और कर्मशील व्यक्ति नींद को बहुमान नहीं देते। भगवान महावीर का साढ़े बारह वर्षों का साधनाकाल रहा। उसमें उन्होंने नींद बहुत ही कम ली। सामान्यतः नींद का संबंध अपनी-अपनी शारीरिक-प्रकृति के साथ है। सामान्यतया बच्चे अधिक नींद लेते हैं। उनकी नींद गहरी होती है, मीठी होती है। हम बाल मुनियों को जब सुबह उठाते हैं तो उनमें से कुछ बड़ी मुश्किल से उठते हैं। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, नींद प्रायः कुछ कम हो जाती है।

सोने की कला

सोना भी एक कला है। उसकी कसौटी है अच्छी और गहरी नींद लेना। व्यक्ति स्वस्थ हो, दिमाग पर किसी प्रकार का भार न हो, चित्त प्रसन्न हो तो नींद अच्छी आती है। पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञ को मैंने देखा कि जीवन के नवें दशक में भी उन्हें गहरी और अच्छी नींद आती थी। कई बार तो वे सोते ही तत्काल नींद में चले जाते थे। यह बहुत अच्छी स्थिति है। तनावमुक्त जीवन जीने वाला व्यक्ति ऐसी नींद ले सकता है। ऐसी नींद वास्तव में

कलात्मक नींद है। सोते सब हैं पर सोने की कला विरले व्यक्ति ही जानते हैं। इस कारण कुछ व्यक्ति अतिनिद्रा के शिकार हो जाते हैं तो कुछ अनिद्रा के। अति चाहे नींद की हो या जागरण की दोनों ही ठीक नहीं है। जानबूझकर नींद न लेना और नींद दूर करने के लिए प्रयत्न करना एक दृष्टि से अच्छा नहीं होता। उससे शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य कुप्रभावित हो सकता है।

खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते व्यक्ति के दिमाग में विचारों की भीड़ उमड़ती रहती है। सोते समय भी वह अकेला नहीं होता। फलतः वह चैन से नींद नहीं ले पाता।

एक कपड़े का व्यापारी घर में सो रहा था। सोते वक्त उसका दिमाग व्यापार में उलझा हुआ था। उसने स्वप्न में देखा कि ग्राहक आया है। मैं उसे कपड़ा दे रहा हूं। वह सोते-सोते अपनी पहनी हुई धोती को फाड़ने लगा। कपड़ा फटने की आवाज सुनकर वह जागा, सोचा, आवाज कहां से आई? ध्यान देने पर पता चला कि अपनी धोती ही हाथों में आ गई और उसे फाड़ दिया गया। यह क्लेशमुक्त नींद की स्थिति नहीं है। इसलिए आवश्यक है कि सोने से पूर्व व्यक्ति अपने मन को पवित्र विचारों से भावित करे, आवेग और आवेश के कीटाणुओं को अलविदा कहकर सोए। दिमाग पर बोझ न हो, आसक्ति न हो। पवित्र और सात्त्विक विचारों को मन आंगन में क्रीड़ा करने दें ताकि भाव शुद्ध हो व गहरी नींद भी आ सके। जिस भावना या विचार के साथ व्यक्ति सोता है, नींद में भी उसका प्रभाव बना रह सकता है।

सोते समय योग निद्रा की स्थिति हो। शरीर के प्रत्येक अवयव व प्रत्येक कोशिका पर ऊं अर्हं या अपने किसी इष्ट मंत्र का न्यास भी किया जा सकता है।

प्रेक्षाध्यान साधना में कायोत्सर्ग का प्रयोग कराया जाता है। इसे शिथिलीकरण भी कहा जा सकता है। सोते समय शरीर को स्थिर करके शिथिलता का सुझाव देते हुए कायोत्सर्ग में प्रवेश किया जाए। दीर्घश्वास का प्रयोग चले। इस प्रकार कायोत्सर्ग का प्रयोग करते-करते व्यक्ति गहरी नींद में चला जाता है, जिससे तन और मन दोनों स्फूर्त हो जाते हैं। सहज साधना का प्रयोग भी हो जाता है।

भावनिद्रा भी टूटे

सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करें तो नींद का संबंध हमारे भीतरी संस्कारों के साथ है। कर्मवाद की भाषा में दर्शनावरणीय कर्म के विपाक से प्राणी नींद लेता है। इस कर्म का जैसा विपाक होता है, नींद भी उसी ढ़ंग की आती है। अनिद्रा की बीमारी की पृष्ठभूमि भी कर्म ही है पर वह असातवेदनीय से सम्बद्ध है। उपरोक्त चर्चा का संबंध शारीरिक नींद के साथ है। एक दूसरे प्रकार की नींद होती है जिसे मूर्च्छा की नींद कहते हैं। इस नींद के अधीन बना व्यक्ति जागता हुआ भी सोता है। यह नींद आत्मविकास में बाधक है। इसके परिणाम हैं—अविरति और अधर्माचरण। जो व्यक्ति धार्मिक है, विषय-भोगों से विरत है, सत्प्रवृत्ति में रत है, वह सोता हुआ भी जागता है। इस बात को लक्षित कर आचारांग सूत्र में कहा गया—**सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।** गीता में भी इस सन्दर्भ में लिखा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी

अर्हत् वाणी में आचार्य तुलसी ने इसी भाव को अनूदित करते हुए लिखा है—

अमुणी-अज्ञानी सदा सोते रहे हैं,
जागकर भी वे अहो! दिन रात सोते।
मुणी-ज्ञानी जागते रहते निरन्तर,
द्रव्य निद्रा लीन भी वे सजग होते।।

यहां मुनि से तात्पर्य केवल मुनिवेष धारण करने से नहीं है अपितु मूर्च्छा के टूटने से है। संन्यस्त होने के बाद भी यदि मूर्च्छा नहीं टूटी, भीतर की चेतना त्याग और संयम की ओर नहीं मुड़ी तो उसे जागते हुए भी जागृत नहीं कहा जा सकता।

एक संत थे। छोटी अवस्था में ही दीक्षित हो गए। बाहर से संसार छोड़ दिया पर भीतर में संसारता बसी हुई थी। वासना का धागा टूटा नहीं था। आत्म-लौ प्रज्ज्वलित नहीं हुई थी इसलिए चिन्तन के दरवाजे पर दस्तक हुई—आत्मा-परमात्मा की बातें कपोल-कल्पित हैं। यदि परमात्मा होता तो मुझे अब तक उसका दर्शन होना चाहिए था किन्तु ऐसा अब तक कुछ भी नहीं हुआ। लगता है मैं ठगा गया। व्यर्थ ही संसार के भोगों से वंचित रहा। खैर,

अभी भी समय है। युवा अवस्था ही तो है। पुनः घर चला जाऊं और संसार के सुख भोगूं। ऐसा विचार कर वह घर की ओर चला। शहर में पहुंचा। एक दुकान दिखाई दी। उस दुकान में जो दुकानदार बैठा था वह उसके बपचन का साथी था। मित्र से मिलने की इच्छा जागृत हुई। दुकान के भीतर गया। वर्षों बाद मुनि वेष में अपने साथी को देख दुकानदार भी प्रसन्न हुआ। उसने मुनि का स्वागत किया। उसे बिठाया। मुनि ने पूछा—दुकान में इतने पीपे पड़े हैं, इनमें क्या रखा है? दुकानदार ने एक-एक पीपे का परिचय देते हुए बताया कि महाराज! अमुक-अमुक में घी, तेल, गुड़, नमक, मिर्च, धनिया, सौंठ आदि हैं। कोने में दो पीपे और पड़े थे। मुनि ने पूछा—इन पीपों में क्या है? दुकानदार ने अपनी भाषा में जवाब दिया—महराज! उन पीपों में तो राम-राम है।

मुनि ने पूछा—अरे! राम-राम भी किसी वस्तु का नाम है क्या?

दुकानदार बोला—महात्माजी! आप हमारी दुनियादारी की भाषा को क्या समझें। कोई बर्तन या पीपा खाली होता है तब हम खाली है, ऐसा नहीं कहकर 'राम-राम है' ऐसा कहते हैं। ये दोनों पीपे तो खाली हैं। इनमें कुछ भी नहीं है।

दुकानदार द्वारा सीधी सी कही हुई बात मुनि के दिल को छू गई। वह सोचने लगा—इसने मुझे बड़े रहस्य की बात कही है। जो खाली होता है उसी में राम-राम रहता है, भरे हुए में तो दुनियादारी है। राम-राम तो खाली रहने वालों को ही मिलता है। मुझे भी तो राम को पाना है। इसके लिए पहले मन-मस्तिष्क को खाली करना होगा। जब तक दिमाग क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, अहंकार से भरा रहेगा, जब तक मन में राग द्वेष की ऊर्मियां हिलोरें लेती रहेंगी, वासना के संस्कार बद्धमूल रहेंगे तब तक राम नहीं मिलेगा। बस, यह आत्मसंबोध जागा और वहां से चरण पुनः मुड़ गए।

जिन्दगी में कुछ क्षण ऐसे आते हैं जो जिन्दगी को एक निश्चित दिशा देते हैं, पूरे जीवन को उजाले से भरते हैं। कभी-कभी लोग कह देते हैं कि रोजाना प्रवचन श्रवण क्यों करें? क्या होगा सुनने से? पर ऐसे प्रेरक प्रसंग इस बात के साक्षी हैं कि जीवन में रूपान्तरण लाने के लिए, अपूर्व को ग्रहण करने, जिज्ञासा को समाहित करने, समस्याओं का समाधान पाने, सद्भाव की प्रेरणा उपलब्ध करने हेतु संत समागम बहुत उपयोगी है। उससे भावनिद्रा टूट सकती है और श्रेयस् की ओर कदम आगे बढ़ सकते हैं।

७
कैसे खाएं?

भोजन जीवन की एक अनिवार्यतम अपेक्षा है। शरीर को टिकाए रखने के लिए हर आदमी को भोजन करना होता है। भोजन करना एक बात है। विवेकपूर्ण भोजन करना दूसरी बात है। प्रश्न होता है—कैसे खाएं? इस प्रश्न के उत्तर में तीन महत्त्वपूर्ण सूत्र दिए जा सकते हैं—मित भोजन, हित भोजन और ऋत भोजन।

मित भोजन

मित भोजन अर्थात् अधिक न खाना, भूख से दो ग्रास कम खाना। दो चपाती की भूख हो तो डेढ़ चपाती खाना लाभदायक हो सकता है पर दो की जगह ढ़ाई-तीन चपाती खाना बीमारी को निमंत्रण देना है। एक बार उचित मात्रा में भोजन कर लिया जाए, उसके बाद कोई स्वादिष्ट वस्तु भी सामने आए तो मन पर कंट्रोल होना चाहिए। यथासंभव खाने का प्रयास न हो। एक बार अच्छी मात्रा में भोजन होने के बाद तीन-चार घंटे पेट को विश्राम मिलना चाहिए। कई लोग त्याग करने का अच्छा क्रम रखते हैं। दिन में दो घंटे, तीन घंटे, पांच घंटे जितना सम्भव हो, खाने का त्याग कर देते हैं। यह एक अच्छी बात है। इससे सहज तपःसाधना सध जाती है, खाने का संयम हो जाता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर है।

मैं जब छोटा बच्चा था, साधुओं के पास जाया करता था। वहां एक वृद्ध श्रावक से मिलना हुआ। उनके पास एक छोटी सी पुस्तिका थी। उस पर लिखा था—खाते-पीते मोक्ष। मैंने जानकारी की कि खाते-पीते मोक्ष कैसे हो सकता है। खाने का एक घंटे का त्याग कर दो, एक बिंदु लगा दो। फिर त्याग करो, दूसरा बिंदु लगा दो। इस प्रकार इस पुस्तिका के सब कोष्ठक भरे जाते हैं।

इसका एक ही उद्देश्य है कि त्याग की दिशा में व्यक्ति की अधिक से अधिक गति हो। यह तब सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति का जिह्वा पर संयम हो।

युक्ति से प्रतिबोध

एक युवक था। उसने पर्याप्त मात्रा में भोजन कर लिया। भोजन करके उठा कि मित्र की तरफ से भोजन का निमंत्रण आ गया। युवक ने सोचा—चला जाऊं। सहज रूप से माल खाने को मिलेगा किन्तु मन में आया कि पिताजी बैठे हैं तो उनका परामर्श भी ले लेना चाहिए। पिता के पास गया और संस्कृत भाषा में अपना अभिप्राय रखते हुए कहा—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति नोद्गाराः नोऽधो गच्छन्ति वायवः।
निमंत्रणं समायातं, तात! ब्रूहि करोमि किम्।।

पिताजी! मैंने भोजन तो पार्यप्त मात्रा में कर लिया है। कुछ अधिक ही खा लिया है। स्थिति यह है कि ऊपर से डकार नहीं आ रही है, नीचे से अधोवायु नहीं हो रही है किन्तु मित्र की ओर से निमंत्रण आ गया है। क्या मैं प्रीतिभोज में सम्मिलित होने चला जाऊं? पिता ने सोचा—सीधा निषेध करना ठीक नहीं है। इसे युक्ति से समझाना चाहिए। समझाने का भी तरीका होता है। कभी सीधी भाषा में कहकर समझाया जाता है, कभी टेढ़ी भाषा में समझाना होता है। पिता ने भी संस्कृत में ही उत्तर देते हुए कहा—

भोजनं कुरु दुर्बुद्धे!, मा प्राणेषु दयां कुरु।
परान्नं दुर्लभं लोके, शरीराणि पुनः पुनः।।

अरे मूर्ख! इसमें पूछने की क्या बात है? खाओ, खूब खाओ। शरीर तो पुनः मिल जाएगा पर मुफ्त का माल खाने को कब मिलेगा? पिता के इस कथन से लड़का समझ गया कि ज्यादा खाऊंगा तो शरीर को खतरा होगा। उसने प्रीतिभोज में जाने का विचार बदल दिया।

सामान्यतः खाना पूरा हो जाए, उसके बाद चाहे मनोज्ञ पदार्थ भी सामने क्यों न आ जाए, खाने की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

खाने में जल्दबाजी करना भी अनुचित है। जो धीरे-धीरे चबा-चबा कर खाता है, उसके लिए खाद्य-संयम काफी आसान हो जाता है। खाते समय व्यक्ति का दिमाग भी शांत होना चाहिए। कहा गया है—ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ आदि स्थितियों में किए गए आहार का परिपाक सम्यक् नहीं होता है।

जठराग्नि मंद हो जाती है। जैन तपोविधि में आहार-संयम के कई प्रयोग विहित हैं—अनशन यानी उपवास आदि। ऊनोदरी यानी नवकारसी, प्रहर आदि। एक अवस्था जा जाने के बाद व्यक्ति सायंकाल का भोजन कम कर दे या बिल्कुल छोड़ दे तो शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उचित हो सकता है।

एक भाई ने मुझसे पूछा—मैं सामान्यतया रात्रि में भोजन नहीं करता हूं पर कभी-कभी कार्यवश बाहर चला जाता हूं तो आने में विलम्ब हो जाता है। रात में भोजन करने की स्थिति आ जाती है। मुझे क्या करना चाहिए? मैंने कहा—आपकी जो उम्र है उसमें दो समय का भोजन पर्याप्त है। प्रातःकाल का और मध्याह्न का। सायंकाल का भोजन न करना आपके स्वास्थ्य के लिए ज्यादा हितकर हो सकता है। उन्होंने मेरी बात पर ध्यान दिया और दो बार के भोजन से ही काम चलाना शुरु कर दिया।

एकासन में भी विवेक होना आवश्यक है। ऐसा न हो कि तीन-चार बार का खाना एक बार में ही ठूंस-ठूंस कर खा लिया जाए। प्रातःकाल नाश्ते में भी मेरे विचार से अधिक नहीं खाना चाहिए। उपवास के पारणे में भी कई लोग अधिक खा लेते हैं। पारणे में अधिक खाना नुकसानप्रद है। गुरुदेव तुलसी अपने जीवन का एक संस्मरण सुनाया करते थे। वे जब छोटे थे तो उपवास के पारणे में कई द्रव्य ले लेते थे। उससे पारणे के बाद बेचैनी हो जाती। पैरों में भारीपन का अनुभव होता। एक बार उन्होंने एक अनुभवी श्रावक से इसका समाधान पूछा। उसने परामर्श दिया कि पारणे में आप थोड़े से दूध के अतिरिक्त कुछ न लिया करें। उस विधि से पारणा शुरु किया तो कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हुई।

पारणे में संयम बहुत आवश्यक है। व्यक्ति अठाई करे, पंद्रह का तप करे या मासखमण तप करे और पारणे तथा पारणे के कुछ दिन बाद तक खाने में संयम न रखे तो तपस्या बदनाम भी हो सकती है।

हित भोजन

हित भोजन अर्थात् हितकर भोजन। परिमित भोजन में भी वैसा खाना जो हितकर हो। जो खाना स्वास्थ्य के लिए अहितकर हो उससे बचना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में एक प्रसंग आता है कि किस प्रकार अहितकर पदार्थ को खाने से राजा को अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा। एक राजा को आम खाने का

बड़ा शौक था। उसे खाने के लिए प्रतिदिन आम चाहिए। आम भी अतिमात्रा में खा लेता। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' अति को सर्वत्र त्याज्य माना गया है। अधिक मात्रा में आम का सेवन होने से राजा का शरीर रोगाक्रान्त हो गया। वैद्य को बुलाया गया। अच्छा अनुभवी वैद्य था। नाड़ी देखकर कहा—राजन्! मैं आपको दवा दूंगा, आप ठीक हो जाएंगे। फिर मेरे द्वारा बताए गए परहेज के अनुसार चलेंगे तो यह बीमारी वापिस कभी नहीं होगी। एक पुड़िया दी और साथ में परहेज बता दिया कि आम जीवन में कभी भी मत खाना। राजा ने वैद्य की बात को स्वीकार किया। दवा की एक पुड़िया ली और बीमारी खत्म हो गयी। राजा ने निर्णय कर लिया कि अब जिन्दगी में कभी भी आम नहीं खाऊंगा। आदेश निकाल दिया गया—शहर में कहीं कोई आम का पेड़ हो तो उसे नष्ट कर दिया जाए ताकि मेरे पास कोई आम आ ही न सके।

एक बार राजा और मंत्री घूमने गए। शहर की सीमा से बहुत आगे चले गए। वहां एक आम का बगीचा था। आम की सुगंध दूर से ही राजा को आकृष्ट करने लगी। राजा ने मंत्री से कहा—मंत्री! बहुत थक चुका हूं। कहीं विश्राम करना पड़ेगा। पास में यह बगीचा है। इसमें चलें।

मंत्री ने कहा—महाराज! बगीचा तो है पर आम का है।

राजा बोला—मंत्री! गहरा थक गया हूं। एक बार तो विश्राम यहीं करना पड़ेगा।

मंत्री ने बहुत समझाया पर आखिर मालिक पर मालिक कौन? राजा और मंत्री आम के बगीचे में पहुंचे। एक आम के पेड़ के नीचे राजा विश्राम करने लगा। छायादार पेड़। ठंडी हवा। हवा के एक झोंके के साथ एक आम टूटकर राजा की गोद में आ गिरा। आम के प्रति राजा का पुराना प्रेम उद्‌बुद्ध हो गया। राजा ने आम को हाथ में लिया। घुमा-घुमाकर राजा उसे देखने लगा।

मंत्री निवेदन की भाषा में बोला—महाराज! मुझ पर कृपा करें। इस आम को फेंक दें।

राजा बोला—मंत्री! तुम तो बड़े बुजदिल हो। आम को देखने में क्या दिक्कत है? वैद्य ने आम खाने का निषेध किया है। देखने में कौनसा अपराध हो गया? मैं तो देख ही रहा हूं। खा तो नहीं रहा हूं। आम को देखते-देखते राजा उसे सूंघने लगा।

मंत्री ने पुनः निवेदन किया—महाराज! कृपा कर आम को दूर रखें।

राजा ने फिर मंत्री की बात को काटते हुए कहा—मंत्री! आम को सूंघने में क्या दिक्कत है? सूंघते-सूंघते राजा ने उसे होठों से लगाया और थोड़ा सा रस चूस भी लिया। मंत्री ने साहस किया और राजा के हाथ से छीन कर आम को दूर फेंक दिया। राजा की स्थिति बिगड़ने लगी। मंत्री ने तत्काल राजा को महल में पहुंचाया। उसी पुरानी बीमारी ने पुनः आक्रमण कर दिया। उसी वैद्य को पुनः बुलाया गया। वैद्य आया। उसने कहा—आपने कहीं न कहीं अतिक्रमण किया है, आम खाया है, अन्यथा मेरी दवा लेने के बाद बीमारी पुनः हो नहीं सकती। राजा बोला—वैद्यजी! ज्यादा तो नहीं खाया, मैंने तो थोड़ा सा चूसा था। वैद्य बोला—महाराज! उसी ने गड़बड़ की है। अब मेरे पास कोई इलाज नहीं है। वैद्य के देखते-देखते राजा के प्राण-पंखेरू उड़ गए। यह है खाने का असंयम। राजा यदि खाने का संयम रख पाता तो सम्भवतः अकाल मृत्यु टल भी जाती किन्तु व्यक्ति को जिस वस्तु का स्वाद लग जाता है, उसे छोड़ना असम्भव नहीं तो कठिन प्रायः अवश्य होता है।

ऋत भोजन

कैसे खाएं? प्रश्न का तीसरा उत्तर है—ऋत भोजन। इसका शाब्दिक अर्थ है—सत्य भोजन यानी ईमानदारी से, सच्चाई से अथवा श्रम से उपार्जित पैसे से प्राप्त होने वाला भोजन। बेईमानी से प्राप्त अन्न को अच्छा नहीं माना गया है। दूसरों का खून चूसकर जो व्यक्ति पैसा कमाता है, उसकी स्वयं की आत्मा तो भीतर से कचोटती ही है औरों की दृष्टि में भी वह अच्छा नहीं समझा जाता। कहा भी जाता है कि नीति का पैसा बरकत करता है। श्रावक के लिए आगम में एक विशेषण आता है **धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा।** धर्म से आजीविका चलाने वाला श्रावक होता है। गृहस्थ साधु की तरह अपरिग्रही नहीं बन सकता। मांगकर नहीं खा सकता किन्तु अर्जन के साथ साधन शुद्धि का विचार जुड़ना चाहिए। साधन शुद्धि से उपार्जित वैभव से आजीविका चलाने वाला व्यक्ति शांति और सम्मान का जीवन जीता है। इस प्रकार मित भोजन, हित भोजन और ऋत भोजन—ये तीन सूत्र भोजन के साथ जुड़ जाएं तो कैसे खाएं? इस प्रश्न का समाधान हो सकता है।

७
कैसे बोलें ?

जीवन के क्रियातंत्र को संचालित करने वाले तीन तत्त्व हैं—मन, भाषा और शरीर। भाषा संबंधों को विस्तार देती है। यदि भाषा नहीं होती तो हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाती। समाज का निर्माण भाषा से होता है। पशुओं के पास विकसित भाषा नहीं होती इसलिए शायद उनके समूह को समाज भी नहीं कहा जाता। भाषा से अन्तर के भावों की अभिव्यक्ति होती है। हम अपने विचारों को बोलकर दूसरों तक पहुंचा सकते हैं। बोलने की क्षमता संसार के सब प्राणियों के पास नहीं होती। स्थावर जीवों के पास भाषा होती ही नहीं है। शेष तिर्यञ्च प्राणियों के पास भाषा होती तो है पर वह व्यक्त नहीं होती। एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसके पास व्यक्त भाषा है। उसे बोलने की क्षमता प्राप्त है। यहां भी यह विचारणीय है कि मनुष्य में भी वाणी का विकास सबका एक जैसा नहीं होता। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बोलते तो हैं पर बोलते समय तुतलाते हैं, हकलाते हैं। वे स्पष्टता से अपनी बात नहीं रख पाते। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी भाषा तो स्पष्ट होती है पर भावों को अभिव्यक्त करना नहीं जानते। ऐसी स्थिति में वे व्यक्ति भाग्यशाली होते हैं जो अच्छी तरह बोल सकते हैं। अपनी बात को स्पष्टता से दूसरों तक पहुंचा सकते हैं।

बोलना : एक कला

बोलना एक बात है, कलापूर्ण बोलना दूसरी बात है। वाणी का सदुपयोग भी किया जा सकता है, दुरुपयोग भी किया जा सकता है। वाणी के द्वारा मनुष्य समस्या को पैदा भी कर सकता है, समस्या का समाधान भी कर सकता है। वाणी के द्वारा दूसरों को उन्मार्ग में भी ले जाया जा सकता है और कल्याण का पथ भी दिखलाया जा सकता है। प्रश्न है कि बोलना कैसे चाहिए? इस

प्रश्न के उत्तर में चार महत्त्वपूर्ण सूत्रों को समझना चाहिए। वे चार सूत्र हैं—मितभाषिता, मधुरभाषिता, सत्यभाषिता, समीक्ष्यभाषिता।

मितभाषिता

मितभाषिता अर्थात् अल्पभाषिता। इसका अर्थ है—कम बोलना। जितना अपेक्षित हो उससे अधिक न बोलना। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अनावश्यक बहुत बोलते हैं। इधर-उधर की बातें करने में उन्हें बड़ा रस आता है। थोड़ी सी किसी की बात उन्हें मिल जाए तो उसको फैलाए बिना उनका खाना भी हजम नहीं होता। यह वाणी का असंयम है। वाणी-संयम का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है मौन। मौन का मूल अर्थ है—ज्ञान किन्तु प्रचलित अर्थ है—न बोलना। कई व्यक्ति दिनभर में घंटे, दो घंटे, चार घंटे, पांच घंटे या उससे भी अधिक मौन कर लेते हैं, यह अच्छी बात है। पर कई व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो कई घंटों का मौन करने के बाद जब बोलना शुरू करते हैं तो न बोलने की पूरी कसर निकाल लेते हैं। मौन के संदर्भ में मैं कई बार कहा करता हूं कि कुछ समय के लिए मौन करना अच्छा है किन्तु अनावश्यक न बोलने का संकल्प उससे भी अधिक अच्छा है। इस मौन के लिए घंटे-दो घंटे का समय निर्धारित करने की अपेक्षा नहीं है। यह मौन चौबीस घंटे रखा जा सकता है। इससे व्यवहार भी नहीं रुकता और सहज मौन सध जाता है।

मौन : एक कठिन साधना

न बोलना तो सामान्य सी बात लगती है पर उसकी साधना बहुत कठिन है। कुछ लोगों के लिए तो एक घंटा मौन करना भी मुश्किल होता है। इस सन्दर्भ में एक कहानी आती है—चार युवक थे। वे घूमते-घूमते एक संन्यासी के पास चले गए और बोले—महात्माजी! हमने सुना है आप बड़े ध्यानयोगी हैं। हम भी आपके पास ध्यान की साधना करने आए हैं। आप कृपा करके हमें ध्यान सिखाएं। महात्माजी ने उन चारों की आकृति को पढ़ा तब लगा कि इनमें चंचलता अधिक है। ध्यान की योग्यता नहीं है। ये बातूनी हैं। जो अधिक बोलता है वह ध्यान की दिशा में गति नहीं कर सकता। संन्यासी ने कहा—देखो! ध्यान का पाठ तो बाद में पढ़ाया जाएगा, पहले मौन का पाठ पूरा करना है। तुम चारों पहले एक घंटा मौन करो। चारों का वाक्संयम सध जाएगा तो उसके बाद ध्यान की विधि बताई जाएगी। चारों ने स्वीकृति दी। संन्यासी

ने उन्हें एक घंटे मौन का संकल्प कराकर एक स्थान पर बैठने का आदेश दिया। संध्या का समय था। थोड़ी रात घिर आई थी। चारों में से एक बोला—इतना अंधेरा हो गया है, किसी ने अब तक लालटेन नहीं जलाई। पास बैठे दूसरे व्यक्ति ने कहा—चुप रहो, हमारे अभी मौन है। तीसरा युवक भी चुप नहीं रह सका। उसने कहा—तू भी बोल गया। चौथा अहंकार की भाषा में बोला—तुम सब बोल गए। मौन तो एक मैंने ही रखा। संत ने कहा—तुम चारों ही बोल गए। एक घंटा भी मौन नहीं रख सके, फिर ध्यान के पात्र कैसे बन सकते हो? जाओ, तुम ध्यान के योग्य नहीं हो।

साधना के क्षेत्र में जो उतरना चाहता है उसके लिए वाक्संयम का अभ्यास आवश्यक है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र में मुनि के लिए स्थान-स्थान पर वाक्संयम का निर्देश दिया गया है। कई लोग हमारे पास आते हैं और अपने क्रोध की समस्या रखते हैं। हम उन्हें एक उपाय सुझाते हैं कि जब गुस्सा आए तो दस मिनट का मौन कर लेना चाहिए। दस मिनट का मौन गुस्से को स्वयं शांत कर सकता है। जहां कहीं कलह अथवा झगड़े की सम्भावना हो वहां मौन का मूल्य अथवा उपयोगिता विशेष बढ़ जाती है। वाणी के संयम और असंयम को आधार बनाकर एक कवि ने कल्पना की है—

मौखर्यं लाघवकरं, मौनमुन्नतिकारकम्।
मुखरौ नूपुरौ पादे, कण्ठे हारो विराजते।।

मुखरता आदमी को छोटा बनाती है और मौन उन्नति की दिशा में ले जाने वाला होता है। नूपुर आवाज करता है इसलिए उसे नीचा स्थान मिला है। हार शांत रहता है, मौन रहता है इसलिए उसे ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ है। तात्पर्य इतना ही है कि वाक्संयम रखने वाला व्यक्ति ऊंचा उठ सकता है और बोलने में असंयम करने वाला नीचे रह जाता है।

कई वक्ता स्टेज पर आते हैं और बहुत लम्बा बोलते हैं। लम्बा बोलना बुरी बात नहीं है पर बोलते समय परिषद् को देखना भी आवश्यक होता है। श्रोता सुनना न चाहे, बोलने की उपयोगिता भी न हो और वक्ता बोलता रहे तो वह अप्रिय बन जाता है। बोलना उतना ही चाहिए जितनी उपयोगिता हो, आवश्यकता हो और लाभ की सम्भावना हो। बोलना, न बोलना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है—बोलने और न बोलने का विवेक। जहां बोलने की अपेक्षा

नहीं, वहां बोला जाए और जहां अपेक्षा हो, वहां मौन कर लिया जाए—ये दोनों ही अनुचित हैं।

एक धर्माचार्य थे। उन्होंने तीन शिष्यों को एक गांव में जनता को उपदेश देने के लिए भेजा। तीनों शिष्य गए। चार महीने का वहां प्रवास किया। प्रवास काल में तीनों ने मौन स्वीकार कर लिया। प्रवास पूर्ण कर गुरु के पास पहुंचे। गुरु ने पूछा—बोलो, जनता को क्या उपदेश सुनाया? तीनों ने कहा—हमने तो सुनाया कुछ नहीं। चार महीने का मौन कर लिया था। गुरु ने कहा—तुम लोगों ने अच्छा नहीं किया। मैंने तो उपदेश देने के लिए भेजा था। उपदेश न देकर मौन करना तो आज्ञा की अवहेलना है। इस घटना के संदर्भ में शिष्यों का मौन करना भी अनुचित था। कहने का तात्पर्य है—बोलना और न बोलना अच्छा है भी और नहीं भी। मौके पर बोलना अच्छा है। बिना मौके न बोलना अच्छा है।

मधुरभाषिता

कैसे बोलना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर का दूसरा सूत्र है—मधुरभाषिता अर्थात् मीठा बोलना। कड़वा न बोलना। मधुर बोलने वाला दूसरों में प्रीति उत्पन्न करता है। कवि ने कहा है—

प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति मानवाः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता?

प्रिय बोलने से सुख उत्पन्न होता है। दूसरों को खुश करने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मीठा बोलना। यह एक वशीकरण मंत्र है। कोयल भी बोलती है और कौवा भी बोलता है। कोयल मीठी बोलती है अतः सबके मन को आकृष्ट करती है। कौवा कड़वा बोलता है, सबको अप्रिय लगता है। किसी को शिक्षित करने में मधुर शब्दों के प्रयोग का जो असर होता है वह कटु शब्दों के प्रयोग का प्रायः नहीं होता। एक लड़का पांचवीं कक्षा में पढ़ता था। परीक्षा हुई। परीक्षा परिणाम आया। लड़का अनुत्तीर्ण घोषित हुआ। वह पिता के पास आया। पिता को बहुत गुस्सा आया। उत्तेजनापूर्ण शब्दों में लड़के को डांटते हुए उसने कहा—तुम नालायक हो। दिन भर टी.वी. देखते रहते हो। पढ़ने से जी चुराते हो। क्यों मेरा पैसा बर्बाद किया? पिता के इन आवेशपूर्ण शब्दों ने पुत्र के मन में तीव्र प्रतिक्रिया पैदा कर दी। सोचा, फेल भी हो गया तो इतना डांटने वाली कौनसी बात थी? जो पढ़ता है वही तो फेल होता है। पिताजी ने इतना

डांटा है इसका कभी मौके पर बदला लूंगा। बदले की भावना जग गई। उसी कक्षा में एक दूसरा लड़का पढ़ता था। वह भी फेल हो गया था। उसके पिता को जब इस बात का पता चला तो उसने अपने पुत्र से कहा—बेटा! चिन्ता मत करना। लगता है, तुमने इस बार मेहनत कम की है। एकाग्रता से अध्ययन नहीं किया है। पर कोई बात नहीं, अब गर्मी की छुट्टियां सामने हैं। मानसिक एकाग्रता के विकास के लिए ध्यान का अभ्यास करो। मन लगाकर खूब अध्ययन करो और श्रम करो। मेरा विश्वास है अगली बार तुम अच्छे अंकों से पास हो जाओगे। पिता की शांतिपूर्ण शिक्षा ने पुत्र में आत्मविश्वास उत्पन्न किया। अगली बार परीक्षा में वह सर्वाधिक अंकों से अपनी कक्षा में उत्तीर्ण हुआ।

दो विद्यार्थियों के ये दो चित्र हैं। इनसे यह प्रेरणा ली जा सकती है कि मधुर बोलकर, शांतिपूर्ण तरीके से बोलकर व प्रिय बोलकर जो काम कराया जा सकता है वह अप्रिय व कटु बोलकर नहीं कराया जा सकता। हां, क्वचित् कठोर भाषा की भी उपयोगिता हो सकती है पर सर्वत्र नहीं।

सत्यभाषिता

कैसे बोलें? इस प्रश्न के उत्तर का तीसरा सूत्र है—सत्यभाषिता। सत्यभाषिता अर्थात् यथार्थ बोलना। जहां तक बन सके आदमी को झूठ बोलने से बचना चाहिए। झूठ बोलने के मुख्य कारण हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। झूठ बोलने वाला व्यक्ति अपना विश्वास खो देता है। साधु के लिए तो नियम है कि वह सत्य महाव्रत का पालन करे। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी असत्य का सहारा न ले। गृहस्थ भले ही पूर्ण सत्य का पालन न कर सके फिर भी बहुत अंशों में वह असत्य से बच सकता है। असत्य से बचने वाले व्यक्ति के जीवन में सहज ईमानदारी अवतरित हो जाती है। सत्य में इतनी शक्ति होती है कि कुछ अंशों में आदमी में भगवत्ता प्रकट हो जाती है। सत्यवादी व्यक्ति को वचन सिद्धि प्राप्त हो सकती है। राजस्थानी में कहा गया है—

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै सांच है, ता हिरदै प्रभु आप।।

समीक्ष्यभाषिता

कैसे बोलें? इस प्रश्न के उत्तर का चौथा सूत्र है—समीक्ष्यभाषिता।

समीक्ष्यभाषिता अर्थात् विचारपूर्वक बोलना। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। जो व्यक्ति बिना प्रयोजन, बिना अवसर बोलते रहते हैं, सज्जन व्यक्तियों की दृष्टि में उनका बहुत महत्त्व नहीं होता। किसी बड़े आदमी तक अपनी बात पहुंचानी हो तो अवसर की खोज आवश्यक होती है। उचित अवसर पर शालीनता से रखी गई बात का मूल्य भी होता है। बिना अवसर जल्दबाजी में अशिष्टता से यदि कोई उचित बात भी रखी जाए तो उसका कई बार उचित मूल्यांकन नहीं होता। **पहले तोलो फिर बोलो** यह सूक्ति व्यक्ति को चिन्तनपूर्वक बोलने की दिशा में प्रेरित करती है। चिन्तनपूर्वक बोलने वाले व्यक्ति की मितभाषिता, मधुरभाषिता, सत्यभाषिता और समीक्ष्यभाषिता स्वतः सध सकती है। भाषा प्रयोग के इन चार सूत्रों पर ध्यान केन्द्रित करने वाले व्यक्ति का बोलना कलापूर्ण हो सकता है। कलापूर्ण बोलना एक आदर्श व्यक्ति की पहचान हो सकती है।

८
कैसे सहें?

कैसे खाएं? कैसे बोलें? कैसे सोएं? आदि प्रश्नों की तरह कैसे सहें? यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

सहना सुखी जीवन की एक अनिवार्य अपेक्षा है। वास्तव में जो सहना जानता है, वही जीना जानता है। जिसे सहना नहीं आता वह न तो शांति से स्वयं जी सकता है और न अपने परिपार्श्व के वातावरण को शांतिमय रहने देता है। जहां समूह है वहां अनेक व्यक्तियों को साथ जीना होता है। जहां दूसरे के विचारों को सुनने, समझने, सहने और आत्मसात् करने की क्षमता नहीं होती, वहां अनेक उलझनें खड़ी हो जाती हैं। जितने भी कलह उत्पन्न होते हैं, चाहे वे पारिवारिक हों या सामाजिक, उनके मूल में एक कारण असहिष्णुता है।

मनुष्य में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो नैसर्गिक शांत प्रकृति वाले होते हैं, प्रतनुकषाय (अल्पकषायी) होते हैं। उनके सामने कितनी ही प्रतिकूल स्थिति क्यों न उत्पन्न हो जाए, उनके साथ कैसा भी अप्रिय व्यवहार क्यों न कर लिया जाए, वे प्रायः कुपित नहीं होते। ऐसे व्यक्ति परिवार और समाज के लिए आदर्श होते हैं। हर व्यक्ति उस आदर्श तक न भी पहुंच सकें पर अभ्यास और दृढ़ संकल्प के द्वारा व्यक्ति अपनी आदत को परिष्कृत और परिमार्जित कर सकता है।

मनुष्य के पास शरीर है, वाणी है और मन है। जैनदर्शन की भाषा में इन तीनों की प्रवृत्ति को योग कहा जाता है। इन तीनों का आलम्बन लिए बिना शुभ या अशुभ कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सहनशीलता और असहनशीलता की अभिव्यक्ति का संबंध शरीर, वाणी और मन तीनों के साथ है।

शारीरिक सहिष्णुता

सबसे पहले हम शरीर को लें। कुछ व्यक्ति शरीर से बहुत कठोर श्रम कर लेते हैं तथा कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो थोड़े से श्रम से भी थकान का अनुभव करने लग जाते हैं। कुछ व्यक्ति चालीस-पचास किलो वजन आसानी से उठा लेते हैं तो कुछ व्यक्तियों को दो किलो वजन उठाने में भी सोचना पड़ता है। किसान खेतों में काम करते हैं। न धूप की परवाह करते हैं, न छांह की। फिर भी वे स्वस्थ रहते हैं। इसके विपरीत जो एयरकंडीशन में रहने के अभ्यस्त हैं वे थोड़ी-सी भी मौसम की प्रतिकूलता होते ही बेचैन हो जाते हैं। ऐसा क्यों? इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। कुछ अंशों में अभ्यास की कमी भी एक कारण बनती है। एक तथ्य यह है कि शरीर को जिस स्थिति और जिस वातावरण में रखा जाता है वह वैसा ही बन जाता है। एक बार सुविधा की स्थिति में शरीर को रख लेने के बाद कठोरता को सहना मुश्किल हो जाता है।

कहा जाता है—एक बार अकबर और बीरबल घूमने निकले। जंगल में काफी दूर चले गए। उन्होंने देखा—एक लड़का पथरीली भूमि पर आराम से सो रहा है। बादशाह के मन में एक जिज्ञासा पैदा हुई। बीरबल से पूछा—बीरबल! यह कैसे संभव है कि व्यक्ति ऐसी ऊबड़-खाबड़ पथरीली भूमि पर सोए और आराम से उसे नींद आ जाए?

बीरबल ने कहा—जहांपनाह! इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। यह तो अभ्यास की बात है। शरीर को जैसा अभ्यास दिया जाता है वह वैसा ही बन जाता है। प्रारम्भ से ही जो कठोर भूमि पर शयन करने का अभ्यासी है उसे नींद लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। बीरबल की बात बादशाह के समझ में नहीं आई। बादशाह ने बीरबल को अपनी बात प्रमाणित करने के लिए कहा। बीरबल बोला—जहांपनाह! मैं अवश्य अपनी बात को प्रमाणपुरस्सर प्रस्तुत करूंगा।

बीरबल ने लड़के को जगाया। लड़का गहरी नींद में सो रहा था। बड़ी मुश्किल से जगा। बीरबल ने कहा—बच्चे! तुम हमारे साथ चलो। हम तुम्हें महल में रखेंगे। अच्छा खाने को देंगे। सोने के लिए मुलायम गद्दे देंगे। बच्चा खुशी-खुशी साथ चलने के लिए तैयार हो गया। लड़के को बादशाह के महल में रखा गया। छह महीने वहां रहा। कोमल मखमली गद्दों पर सुलाया गया।

बड़ी मस्ती की नींद लेता। जगाने पर भी मुश्किल से जागता। एक रात बीरबल ने बादशाह की अनुमति प्राप्त कर उसके गद्दे के नीचे दो-चार पत्थर के टुकड़े रख दिए। लड़का सदा की भांति सोया पर आज वह पूरी रात नींद नहीं ले सका। क्षणभर के लिए भी उसकी आंखें निमीलित नहीं हुई। प्रातः बादशाह ने बच्चे को अपने पास बुलाकर पूछा—क्यों, नींद तो अच्छी लेते हो? बच्चा बोला—जहांपनाह! इतने दिन तो नींद बहुत अच्छी आई पर आज की रात बहुत बुरी बीती। एक क्षण के लिए भी मुझे नींद नहीं आई। पता नही, बिछौने के नीचे क्या था। मेरा तो सारा शरीर दर्द करने लगा।

बीरबल ने कहा—महाराज! यह वही बालक है जो पत्थरों पर आराम से गहरी नींद लेने वाला था किन्तु आज गद्दे के नीचे थोड़े से पत्थर के टुकड़े रखे होने के कारण इसकी नींद हराम हो गई क्योंकि इसे पहले कठोर भूमि पर सोने का अभ्यास था। छह महीने में यह अभ्यास छूट गया। अब यह थोड़ी सी भी प्रतिकूलता सहन नहीं कर सकता।

मौसम बदलता रहता है। हर मौसम को शरीर झेल सके, ऐसा अभ्यास होना चाहिए। सर्दी के दिनों में कुछ संत जुकाम के भय से गला बांध लेते। गुरुदेव तुलसी कहते—ऐसा करना ठीक नहीं है। गले को बांधकर रखने से गले का ठंडक झेलने का अभ्यास छूट जाता है। प्रतिरोधात्मक शक्ति कम हो जाती है। फिर थोड़ी सी ठंडी हवा गले को लगी कि गला खराब हो जाएगा। ऐसा देखा भी जाता है कि जो जितना अधिक ठंडक या गर्मी का बचाव करते हैं वे उससे उतने ही अधिक प्रभावित होते हैं। इसी तरह चलने की बात है। कुछ व्यक्ति बीस-पचीस कि.मी. पैदल चलकर थकान का अनुभव नहीं करते, जबकि कुछ दो-तीन कि.मी. भी मुश्किल से चल पाते हैं।

मानसिक सहिष्णुता

शरीर की तरह मन को भी सहने का अभ्यास होना आवश्यक है। मानसिक असहिष्णुता तनाव, घुटन, कुण्ठा, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता आदि को जन्म देती है। जहां मन की असहिष्णुता चरम सीमा पर पहुंच जाती है वहां आत्महत्या, परहत्या जैसी जघन्य घटनाएं घट जाती हैं। वर्तमान युग में असहिष्णुता की दर बढ़ती जा रही है। एक छोटा बच्चा भी तनाव की भाषा समझने लगा है। एक बहिन बता रही थी कि महाराज! मेरा लड़का पांच वर्ष

का है। जब वह पढ़ाई करता है उस समय उसे एक गिलास पानी लाने को बोल दूं तो कहेगा—मम्मी! मुझे पढ़ाई में डिस्टर्ब मत करो। मेरे टेन्शन हो जाता है। मानसिक असहिष्णुता आपसी मैत्री की सरिता को सुखा देती है। पिता-पुत्र, सास-बहू व देवरानी-जेठानी के झगड़ों की बात ही क्या, पति-पत्नी के रिश्तों के बीच भी दरारें पड़ जाती हैं। आवश्यक है, मानसिक सहिष्णुता का विकास हो। मानसिक सहिष्णुता टूटे रिश्तों को जोड़ती है, घावों पर मरहम करती है, स्नेह की सरिता बहाती है और भाईचारे की फसल उगाती है।

वाचिक सहिष्णुता

सहिष्णुता का एक प्रकार है—वाणी की सहिष्णुता। जो व्यक्ति वाणी पर अंकुश रखना जानता है वह असत्य भाषण से तो बचता ही है, आवेश और उत्तेजनापूर्ण भाषा पर भी नियंत्रण कर लेता है। वह कठोर भाषा नहीं बोलता। किसी के दिल को दुखाने वाली अप्रिय, कटु बात नहीं बोलता। भाषा का असम्यक् प्रयोग संबधों में दूरियां बढ़ाता है। चिन्तन और विचारपूर्वक व्यक्ति अपनी जबान को अपने वश में कर सकता है। बहुत बार छोटी सी बात जब झगड़ों का रूप ले लेती है तो व्यक्ति यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि मैं नहीं बोलता तो क्या नुकसान था? इस बात को मैं शान्ति से भी सह सकता था। क्रोध या उत्तेजना का सहारा मैंने क्यों लिया? दूसरे के विचारों को मैं अपने पर हावी होने देना नहीं चाहता तो अपने विचार को दूसरे पर थोपने का मुझे क्या अधिकार है? इस प्रकार प्रशस्त चिन्तन करता हुआ व्यक्ति वाणी की सहिष्णुता को बढ़ा सकता है।

क्रोध से बचें

प्रश्न होता है कि कोई भी व्यक्ति क्रोधित होना नहीं चाहता फिर क्रोध क्यों आता है? क्रोध दो प्रकार का है—एक क्रोध मात्र दिखावटी होता है। मन में क्रोध के भाव नहीं होते, मात्र भाषा में कठोरता होती है। जो अनुशास्ता होते हैं, बड़े समुदाय का नेतृत्व करते हैं, उन्हें कई बार कृत्रिम रोष दिखाना पड़ता है। हालांकि बिना कठोरता के भी काम चल सकता है पर अनेक बार अनुशासनात्मक कार्यवाही करते समय लाल आंख दिखानी जरूरी हो सकती है। कठोर भाषा का भी सहारा लेना होता है। उसके पीछे पवित्र उद्देश्य रहता है—सामने वाले व्यक्ति को सुधारना। गुरुदेव तुलसी को मैंने निकटता से देखा

है। उनका अनुशासन कठोरता और कोमलता दोनों का संगम था। उनका मानना था कि रोगी को देखकर दवा दी जाती है। दवा कड़वी भी हो सकती है, मीठी भी हो सकती है। लक्ष्य एक ही है, रोगी रोगमुक्त हो जाए। जिस व्यक्ति में कमजोरियां हैं उसे ठीक करना है। ठीक करने में अनुशास्ता को भी कहीं वज्र की तरह कठोर बनना होता है तो कहीं फूल की तरह मृदु बनना होता है। यह क्रोध अप्रशस्त नहीं कहलाता। जिस क्रोध में व्यक्ति स्वयं का भान भूल जाए, विवेक खो दे, वैसा क्रोध सबसे अधिक घातक होता है। इससे दूसरे का नुकसान होता है या नहीं, क्रोध करने वाले का अहित तो हो ही जाता है। क्रोध से बचने के अनेक उपाय हो सकते हैं। एक उपाय है—जिस समय क्रोध आए उस वक्त व्यक्ति दस मिनट का मौन कर ले। मौन क्रोध को विफल करने का बहुत अच्छा उपाय है। गुरुदेव तुलसी इस सन्दर्भ में एक कहानी कहा करते थे। माता-पिता की इकलौती लड़की थी। माता-पिता के अतिरिक्त प्यार-दुलार ने उसे उच्छृंखल बना दिया। वह जिस किसी के सामने कुछ भी बोलने में संकोच नहीं करती थी। ईंट का जवाब पत्थर से देने में माहिर थी। वह ससुराल गई। सारा परिवार उसके अशिष्ट व्यवहार से तंग आ गया। वह स्वयं भी दुःखी हो गयी। उसे ससुराल का हर सदस्य बुरा प्रतीत हो रहा था। व्यक्ति की आंखों पर जैसा चश्मा होता है उसे सारा दृश्य वैसा ही दिखाई देता है। वह एक बार पितृगृह गई।

पिता ने पूछा—बेटी! ससुराल कैसा लगा?

पिता के पूछते ही जैसे उसके धैर्य का बांध टूट गया।

वह बोली—पिताजी! क्या बताऊं? ससुरगृह तो नरक सदृश है और सास-ससुर आदि सभी राक्षसी वृत्ति के हैं। ऐसे ससुराल में भेजने से तो अच्छा था कि आप मुझे अन्धकूप में धकेल देते। मैं ससुराल में पुनः पैर धरना नहीं चाहती। पिता अपनी बेटी के व्यवहार से अनभिज्ञ नहीं था।

उसने कहा—बेटी! तू चिन्ता मत कर। मैं तुम्हें ऐसी दवा दूंगा, जिससे सारा परिवार तेरे वश में हो जाएगा। ससुराल स्वर्ग बन जाएगा। जब ससुराल जाने का समय आया तो पिता ने उसके हाथ में मीठे पानी से भरी एक बोतल थमाते हुए कहा—बेटी! यह दवा है। जिस समय गुस्सा आए, उसी क्षण इस दवा का एक घूंट मुंह में लेना है पर ध्यान रहे, उसे निगलना नहीं है। लगभग

दस मिनट मुंह में रखने के बाद उसे थूक देना। लड़की ने वैसा ही किया। ज्योंही क्रोध का प्रसंग उपस्थित होता वह मुंह में दवा डाल लेती। धीरे-धीरे क्रोध अपने आप शांत हो गया। कुछ समय बाद पिता के पूछने पर उसने ससुराल को स्वर्ग तुल्य बताया। यह सब कैसे हुआ? क्रोध पर विजय पाने से। मौन क्रोध पर विजय पाने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। यह सम्भव न हो तो उस स्थान से उठकर अन्यत्र चले जाने से भी क्रोध शांत हो सकता है। क्रोध आए उस समय श्वासदर्शन या श्वास-संयम भी बहुत बड़ा आलम्बन बन सकता है। आदमी लम्बा श्वास ले, लम्बा श्वास छोड़े और साथ में सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा करे तो यह प्रयोग क्रोध-शमन के साथ स्वस्थता एवं मानसिक एकाग्रता की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी बन सकता है।

इस प्रकार शरीर, मन और वचन इन तीनों योगों को साध लिया जाए तो सहिष्णुता का गुण स्वतः विकसित हो जाएगा। सहिष्णुता का विकास आदमी की चेतना में शांति और आनन्द का अवतरण करने वाला सिद्ध होगा।

९
सोच को प्रशस्त बनाएं

मनुष्य एक क्रियाशील प्राणी है। प्रतिक्षण वह किसी न किसी क्रिया में संलग्न रहता है। सामान्यतया आदमी निष्क्रिय नहीं बैठ सकता। श्रीमद्भगवद्गीता का कथन है—**नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्मण्यशेषतः।** सामान्य शरीरधारी प्राणी सम्पूर्ण क्रिया को छोड़ दे यह सम्भव नहीं है। प्रश्न होता है कि आदमी सबसे अधिक कौनसी क्रिया करता है? प्रयोग और परीक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष सामने आया कि मनुष्य सबसे अधिक सोचने की क्रिया करता है। सोचना एक ऐसी क्रिया है जो हर क्रिया के साथ सम्पृक्त रह सकती है। व्यक्ति चलते समय सोचता है। खाते समय विचारों के उपवन में घूमता है। यहां तक कि व्यक्ति नींद में भी चिन्तन मुक्त नहीं रहता।

एक जिज्ञासु ने किसी दार्शनिक से चार प्रश्न पूछे। उसका पहला प्रश्न था—इस जगत में सबसे बड़ा कौन है? उत्तर मिला—आकाश। दूसरी जिज्ञासा की गई—संसार में सबसे आसान काम क्या है? संयत स्वर उभरा—बिना मांगे सलाह देना। तीसरी समस्या रखी गई—विश्व में सबसे कठिन काम क्या है? प्रत्युत्तर में कहा गया—अपनी पहचान। अन्तिम प्रश्न था—दुनिया में सबसे अधिक गतिशील क्या है? दार्शनिक ने कहा—विचार।

विचार की गतिशीलता

वस्तुतः विचार सबसे अधिक गतिशील होता है। मन का कार्य है—स्मृति, चिन्तन और कल्पना। मन एक क्षण में कहीं का कहीं पहुंच जाता है। सोचने का, चिंतन का सिलसिला निरन्तर चलता रहता है। सामान्य आदमी का मन किसी एक आलम्बन पर स्थिर नहीं रहता। वह चंचल है, व्यग्र है, विचरणशील है इसलिए सामान्यतया वह पकड़ में नहीं आता।

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन और श्रीकृष्ण के संवाद से भी यह कथ्य ध्वनित होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं–

चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

हे कृष्ण! यह मन चंचल है, हठी है, बलवान है। इसको मैं वश में करना चाहता हूं किन्तु मुझे लगता है कि जैसे हवा को वश में करना मुश्किल है वैसे ही इस मन को भी वश में करना मुश्किल है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के विचार के साथ सहमति प्रकट करते हुए समाधान की भाषा में कहा–

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।।

हे अर्जुन! निःसन्देह मन चंचल है और उसे वश में करना कठिन है पर निराश होने की अपेक्षा नहीं है। अभ्यास और वैराग्य–इन दो उपायों के द्वारा मन का निग्रह किया जा सकता है।

बहुधा देखा जाता है कि आदमी मन की बैशाखी के सहारे ही चलता है और वह आलम्बन कभी-कभी उसके लिए खतरे की घंटी भी बन जाता है। मन की चंचलता से मनुष्य व्यथित है।

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मन के मते न चालिए, पलक-पलक मन ओर।।

इस पद्य में मन को निकृष्ट और हेय बताया गया है। चिन्तन का यह एक पक्ष है। दूसरी दृष्टि से विचार करें तो मन अच्छा भी है। मन से ही भगवान का स्मरण किया जाता है। मन के द्वारा ही किसी के हिताहित का चिंतन किया जाता है। मन के माध्यम से समस्याओं का समाधान भी पाया जा सकता है। मन हमारा नौकर है पर कभी-कभी नौकर भी मालिक को परेशान कर देता है। अपेक्षा है मन को संस्कारी बनाया जाए, संयत बनाया जाए और उसे अच्छी सोच में नियोजित किया जाए। प्रश्न होगा–सोच को सम्यक् कैसे बनाया जाए? अध्यात्मविदों ने सोच की प्रक्रिया की प्रस्तुति दी। उनके अनुसार व्यक्ति मित, हित और ऋत (यथार्थ) चिन्तन करे। इस त्रिपदी के प्रयोग से वह वैयक्तिक, पारिवारिक और सामूहिक दृष्टि से विकास के नये कीर्तिमान स्थापित कर सकता है।

मित चिन्तन

कैसे सोचें? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हर कार्य को करने का अपना एक तरीका होता है, एक शैली होती है। सोचने का भी तरीका होता है। योजनाबद्ध कलात्मक तरीके से किया गया प्रशस्त चिन्तन लाभदायक होता है। प्रशस्त सोच का पहला बिन्दु है—मित चिन्तन। मित चिन्तन अर्थात् सीमित चिन्तन। सीमातिरिक्त सोचना मनुष्य का स्वभाव सा बन गया है। वह निष्प्रयोजन सोचता रहता है। लक्ष्य प्रतिबद्ध होकर आदमी सोचे तो बात समझ में आती है पर बिना ही प्रयोजन दिमाग में विचारों की उधेड़बुन चलती रहती है। आदमी सोता है विश्राम के लिए पर सोते समय दिमाग को खाली करके नहीं सोता। टी.वी. सीरियल की तरह विचारों के प्रतिबिम्ब उभरते रहते हैं। आदमी पूरी और गहरी नींद नहीं ले पाता और वह अनिद्रा का शिकार हो जाता है। खाना खाते समय भी मन स्मृति और कल्पना दोनों के साथ उड़ान भरता रहता है। फलतः क्या खाया? कितना खाया अथवा खाया या नहीं? कभी-कभी यह भी भान नहीं रहता। आदमी चलता है। चलते समय भी विचारों का प्रवाह नहीं रुकता। कभी-कभी तो आदमी विचारों में इतना खो जाता है कि उसका गंतव्य पथ छूट जाता है और वह दूसरे मार्ग पर चल पड़ता है।

यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति सर्वथा चिन्तनमुक्त नहीं हो सकता पर वह एक सीमा रेखा तो खींच ही सकता है। हालांकि समस्या के समाधान के लिए और नए सृजन के लिए चिंतन करना अपेक्षित भी है पर चिंतन कब करना? कितना करना? कैसे करना? यह विवेक भी आवश्यक है।

मस्तिष्कीय ज्ञान तन्तुओं को क्रियाशील और सक्षम बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि आदमी उतना ही सोचे जितना आवश्यक है। जिस समय जो क्रिया करे मन उसी में लीन रहे। इस पद्धति से चिंतन संयमित हो सकता है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में इस क्रिया को भावक्रिया कहा जाता है। इसमें मन को एक आलम्बन मिल जाता है। मन को एकाग्र करने का सबसे सरल उपाय है—श्वास पर चित्त को केन्द्रित करना। मैंने एक बार युवकों की एक गोष्ठी में दीर्घश्वास के साथ नमस्कार मंत्र के जप की बात कही। कुछ दिन बाद एक व्यक्ति मेरे पास आया और बोला—युवाचार्यश्री! आपने तो मेरी समस्या का समाधान कर दिया। मैं अनिद्रा की बीमारी से ग्रस्त था। आपके कथन के अनुसार मैंने नमस्कार महामंत्र का जप शुरु किया। इससे मेरी अनिद्रा की

समस्या को समाधान मिल गया।

हित चिन्तन

प्रशस्त सोच का दूसरा बिन्दु है—हित चिन्तन। व्यक्ति ऐसा चिन्तन करे जिससे स्वयं का भी भला हो, दूसरों का भी भला हो। स्वयं का भी मंगल हो, दूसरों का भी मंगल हो। दूसरों के बारे में असत् चिंतन करने से सामने वाले का नुकसान होता है या नहीं, हम इस चर्चा में न भी जाएं किन्तु यह निश्चित है कि स्वयं का तो अहित होता ही है।

किसी गांव में एक बुढ़िया रहती थी। वह दूसरे घरों में काम करके जैसे-तैसे अपना पेट भरती थी। उसकी पड़ोसिन भी एक बुढ़िया थी किन्तु दोनों में बनती नहीं थी। दोनों ही एक-दूसरे का अहित करने पर तुली हुई थीं पर क्या करे? कैसे करे? दोनों के समक्ष यह प्रश्न पहाड़ बनकर खड़ा था। एक दिन बुढ़िया देवी के मन्दिर में गई और भावपूर्ण आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और वरदान मांगने को कहा। साथ ही एक शर्त भी रखी कि जो तुम्हें मिलेगा तुम्हारी पड़ोसिन को उससे दुगुना मिलेगा इसलिए सोच-समझकर मांगना। देवी की शर्त बड़ी विचित्र थी। वह असमंजस में पड़ गई। मैं जो मांगूंगी, वह मेरी पड़ोसिन को दुगुना मिलेगा, यह कैसे सहन हो सकता है? कुछ क्षण तक वह सोचती रही। अचानक उसके मन में आया—आज अच्छा मौका है उसको परास्त करने का। ऐसा चक्र चलाऊंगी कि वह जिन्दगी भर याद रखेगी। उसने देवी से वर की याचना करते हुए कहा—मेरी एक आंख फोड़ दो। देवी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गई। मांगने वाली की एक आंख फूटी, दूसरी की दोनों आंखें चली गई। यह है असत् चिंतन का एक उदाहरण। भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण सन्देश है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।।

सभी प्राणी सुखी हों, सभी निरामय हों, सभी कल्याण के मार्ग पर चलें, कोई दुःखी न बनें।

जीवन में अनेक समस्याएं आ सकती हैं। समस्याओं से घबराकर भागना पलायन है। समस्याओं की स्थिति में निराश हो जाना कायरता है। व्यक्ति सोचे—समस्याएं सबक सिखाने के लिए आती हैं इसलिए उन्हें प्रकृति का उपहार

समझकर विधायक चिंतन को अवसर देना चाहिए। 'जो होता है वह अच्छे के लिए होता है' ऐसा चिन्तन करने वाला व्यक्ति सफलता के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है।

करना और होना, दो अलग-अलग क्रियाएं है। दोनों में बड़ा अन्तर है। किसी भी कार्य को करते समय आदमी सावधानी रखे। चिन्तन पूर्वक व योजनाबद्ध कार्य करे। भावी परिणाम को सामने रखकर काम करे, यह जरूरी है। कार्य शुरू करने के बाद जो भी अच्छा-बुरा परिणाम आए, उसे सहजता से झेले। 'जो हुआ वह अच्छे के लिए हुआ' ऐसा मानकर स्वीकार करे। उदाहरण के रूप में हम समझें—एक व्यापारी है। वह व्यापार करता है। व्यापार प्रारम्भ करने से पूर्व वह सोचता है कि मैं व्यवसाय कहां करूं? किस वस्तु का करूं? किसके साथ करूं? यह योजना-निर्माण उसका कर्त्तव्य है। यह 'करना' हुआ। चिन्तनपूर्वक व्यापार आरम्भ कर दिया। व्यापार शुरु करने के बाद घाटा-मुनाफा जो भी होता है, वह होना है, करना नहीं है। जो हुआ है, वह अच्छे के लिए ही हुआ है। यह विचार व्यक्ति को जीवन की नई दिशा देता हुआ उसके वर्तमान पथ को आलोकित करता है।

ऋत चिंतन

प्रशस्त सोच का तीसरा बिन्दु है—ऋत चिंतन। ऋत चिन्तन अर्थात् यथार्थ चिन्तन। कुछ लोग कल्पनाप्रिय होते हैं। गगनचुम्बी योजना बनाते हैं पर क्रियान्विति के लिए उनके पास ठोस जमीन नहीं होती। ऐसे व्यक्ति प्रथम तो किसी कार्य को शुरु करते ही नहीं। यदि कर भी देते हैं तो उसे निष्पत्ति तक नहीं पहुंचा सकते। आजकल प्रबन्धन की चर्चा जोर-शोर से प्रचलित है। समयबद्ध कार्य करने की बात प्रबंधन की हर इकाई के साथ जुड़ी हुई है। आप कोई भी योजना बनाएं, निर्धारित समय-सीमा के भीतर-भीतर उसे निष्पत्ति तक पहुंचाने का लक्ष्य बनाएं। अन्यथा **कालः पिबति तद् रसम्** अर्थात् कार्य में होने वाला विलम्ब उसके रस को खत्म कर देता है, वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। मनुष्य विचार करता है। विचारों के अच्छे और बुरे होने का मूलभूत कारण है—भाव। मन स्थूल है। मन के पीछे या मन के भीतर छिपा है भाव। भाव अशुद्ध है तो मन शुद्ध कैसे होगा? विचार शुद्ध कहां से आयेगा? अतः अपेक्षा है भावशुद्धि की। प्रशस्त सोच से भाव शुद्ध बनते हैं और भावशुद्धि से प्रशस्त सोच का निर्माण होता है। यह उनका अन्योन्याश्रित संबंध है।

१०

बुढ़ापा वरदान कैसे बने ?

जीवन की मुख्य तीन अवस्थाएं हैं—बचपन, यौवन और बुढ़ापा। सामान्यतः बचपन और युवावस्था को व्यक्ति अच्छे ढ़ंग से जी लेता है पर वृद्धावस्था कइयों के लिए अभिशाप बन जाती है। वह अभिशाप न बने, सानन्द बीत सके, इसके लिए कुछ बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है। सत्तर वर्ष से अधिक अवस्था को वृद्धावथा (बुढ़ापा) माना जा सकता है।

खाद्य-संयम का मूल्य

पहला बिन्दु है—खाद्य-संयम। खाद्य का असंयम बहुत सारी बीमारियों का प्रमुख कारण है। यदि खान-पान का संयम नहीं है तो छोटी अवस्था में ही बीमारियां शरीर को आक्रांत कर सकती हैं। ऐसी स्थिति में अनेक व्यक्ति तो वृद्धावस्था की दहलीज तक पहुंचने से पूर्व ही काल कवलित हो जाते हैं। जो काल कविलत होने से बचकर वृद्धावस्था में प्रवेश कर जाते हैं, उनके लिए यह अवस्था बीमारियों के कारण कष्टकर बन जाती है, सुखकर नहीं रहती। इसलिए यह नितान्त अपेक्षित है कि व्यक्ति शुरू से ही खाद्य-संयम के प्रति जागरूक बन जाएं।

आवेश-शमन

इस क्रम में दूसरा बिन्दु है—संवेग-शमन। यों तो संवेग-शमन की साधना हर अवस्था में उपयोगी एवं आवश्यक है पर वृद्धावस्था में तो इसका महत्त्व बहुत अधिक है। वृद्धावस्था को प्राप्त हर व्यक्ति को इसकी सलक्ष्य विशेष साधना करनी चाहिए। इसके अभाव में व्यक्ति का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और चिड़चिड़ा स्वभाव दूसरों के लिए ही नहीं, स्वयं के लिए भी दुःखदायी बन जाता है। वृद्ध व्यक्ति अपनी वृत्ति को शांत रखे, व्यवहार मधुर रखे, बात-

बात में उत्तेजना, आक्रोश न करे, यह उसकी मानसिक प्रसत्ति और समाधि का बहुत बड़ा आधार बन सकता है। ऐसी स्थिति में घर-परिवार एवं पास-पड़ोस के लोगों के मन में उसके प्रति कोई शिकायत-शिकवा का भाव सामान्यतः पैदा नहीं होता। वह सबका प्रिय बना रहता है। इसकी निष्पत्ति यह होती है कि घर-परिवार एवं पास-पड़ोस का वातावरण उसकी ओर से क्षुब्ध नहीं होता।

आदेशात्मक भाषा से बचें

तीसरा बिन्दु है—भाषा-विवेक। भाषा का अपना एक पूरा विज्ञान है। एक व्यक्ति मात्र भाषा प्रयोग के अविवेक के कारण जहां सामने वाले व्यक्ति को उत्तेजित और अशान्त बना देता है, वहीं दूसरा व्यक्ति अपने भाषा-विवेक से उत्तेजित और अशान्त व्यक्ति को शांत बना देता है। वृद्ध व्यक्ति को विवेकानुसार आदेशात्मक भाषा से सलक्ष्य बचना चाहिए। यदि पूर्णतया बचना शक्य न भी हो तो यथासम्भव अवश्य बचे। सुझावात्मक और प्रश्नात्मक भाषा का ही प्रयोग करने का प्रयास करे। उदाहरणार्थ सास यदि बहू को दिनभर—'ऐसा करो, वैसा करो, यह करो, वह करो' की भाषा बोलती है तो बहुत सम्भव है कि किसी प्रसंग में बहू के मन में प्रतिक्रिया पैदा हो जाए और परिणामतः उसको उत्तेजना आ जाए। लेकिन इसके स्थान पर जब सास कहती है—बहूरानी! क्या तुम यह काम कर दोगी? क्या यह काम कर सकती हो? अभी यह काम यदि कर लो तो ठीक रहेगा, इस प्रकार कहने से तेज स्वभाव वाली बहू को भी उत्तेजित होने का अवसर नहीं मिलता। इसलिए यह बहुत उचित प्रतीत होता है कि भाषा सुझावात्मक और प्रश्नात्मक हो, आदेशात्मक भाषा का प्रयोग प्रायः न हो।

उपयोगी हैं प्रेक्षाध्यान के प्रयोग

चौथा बिन्दु है—दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग आदि का प्रयोग। परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान पद्धति प्रस्तुत की। वह वृद्ध लोगों के लिए भी अत्यंत उपयोगी है। दीर्घश्वास प्रेक्षा, कायोत्सर्ग जैसे कुछ प्रयोग यदि वृद्ध भाई-बहिन निष्ठा के साथ नियमित रूप से करते रहें तो उनकी मानसिक प्रसन्नता में विकास हो सकता है। साथ ही साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी प्राप्त होता है।

शक्ति का गोपन न हो

पांचवां बिन्दु है—सक्रियता। सक्रियता जीवन को उपयोगी बनाए रखने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हालांकि वृद्धावस्था में हर व्यक्ति सब कार्य नहीं कर सकता पर यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति अपनी शक्ति का गोपन न करे यानी जो उपयोगी कार्य वह कर सकता है उसमें आलस्य करना उचित नहीं। निष्क्रियता एक ओर जहां उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर ला सकती है, वहीं दूसरी ओर वह परिवार के लिए भारभूत सा बन जाता है। यह स्थिति उसके जीवन को अभिशाप बनाने में बड़ा निमित्त बनती है। इसलिए यह नितान्त अपेक्षित लगता है कि वृद्धजन किसी न किसी सत्कार्य में अपने को संलग्न रखें। मैं मानता हूं कुछ सत्कार्य तो वे बहुत अच्छे ढ़ंग से सम्पादित कर सकते हैं।

महत्त्वपूर्ण है बच्चों में सुसंस्कार-वपन

एक कार्य है बच्चों को सुसंस्कारित करना। घर में बहुएं दूसरे-दूसरे कार्यों में लगी रहती हैं। उनके पास बच्चों को सम्भालने का पर्याप्त समय नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में बच्चों को सुसंस्कार देने का काम यदि वृद्ध माताएं सम्भाल लेती हैं तो उसके तिहरे लाभ हैं। बहुओं को सहयोग मिलता है, वृद्ध माताओं को अपने समय का सदुपयोग करने का एक अच्छा आलम्बन मिल जाता है और बच्चों का हित भी हो जाता है।

प्रसंग लूई नवम् का

पठित की स्मृति के अनुसार फ्रांस की राज-परम्परा में एक लोकप्रिय, प्रभावी एवं प्रतापी राजा हुए हैं—लूई नवम्। उन्होंने अपने जीवन की सफलता की चर्चा करते हुए उसका श्रेय अपनी माता को दिया है। जब वे बच्चे थे, एक दिन मां ने उनको अच्छा आदमी बनने की प्रेरणा देते हुए कहा—बेटे! तुम्हें कोई गलत काम नहीं करना है। यदि तुम गलत रास्ते पर जाते हो, अपनी आत्मा पर किसी कलंक का टीका लगाते हो तो मैं तुम्हें सिंहासन पर बैठा देखने के बनिस्पत सिंहासन को खाली देखना पसन्द करूंगी। तुम्हें गलत कार्य करते देखूं, इसकी अपेक्षा तुम्हारी लाश देखना ज्यादा पसंद करूंगी। बात कड़वी अवश्य थी पर मार्मिक थी। बच्चे के हृदय को छू गई। बड़ी विनम्रतापूर्वक लूई नवम् बोले—मां! मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि तुम्हारा यह बेटा भले ही राजा

बने या न बने परन्तु एक अच्छा नागरिक अवश्य बनेगा। मां से दिशा-बोध पाकर लूई नवम् ने अपने जीवन की दिशा तब से ही सही बना ली। फलतः आगे चलकर वे एक दयालु, नीतिनिष्ठ, प्रभावी एवं जनप्रिय राजा बने, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

यह एक उदाहरण है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। मूलभूत बात है बच्चों में सुसंस्कार भरने की। माताएं कभी-कभी ऐसी शिक्षा प्रदान करती हैं कि उससे बच्चे के पूरे जीवन की सही दिशा निर्धारित हो जाती है। वह सत्पथ का राही बन जाता है। मेरी दृष्टि में बच्चों में संस्कार-निर्माण का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वृद्धजन और उनमें भी विशेषतः माताएं इस कार्य को बहुत अच्छे ढ़ंग से संपादित कर सकती हैं। तात्त्विक दृष्टि से उनके लिए यह एक महान कर्म-निर्जरा का हेतु हो सकता है। बच्चों का लाभान्वित होना तो बिल्कुल स्पष्ट ही है।

वृद्धावस्था को व्यक्ति कैसे जीए, इस दृष्टि से मैंने कुछ बिंदुओं की चर्चा की। इस क्रम में कुछ और भी बिंदु हो सकते हैं। अपेक्षा है वृद्धजन इनका सलक्ष्य अभ्यास करें, बल्कि वृद्धावस्था आने से पूर्व ही इनको जीवनगत बनाने का क्रम शुरू कर दें, जिससे वृद्धावस्था अभिशाप नहीं, वरदान बन सके।

११
मरने की कला

जीने की कला की भांति मरने की भी कला होती है। मृत्यु की कला को वही व्यक्ति जान सकता है जो जीवन की कला से अभिज्ञ होता है। भगवान महावीर कला मर्मज्ञ थे। उन्होंने जैसे जीने की कला का दर्शन दिया, वैसे ही मृत्यु की कला को भी विश्लेषित किया। महावीर के दर्शन में जीने और मरने का महत्त्व नहीं है। महत्त्व संयम और समाधि का है। असंयममय जीवन भी काम्य नहीं है, मृत्यु भी काम्य नहीं है।

मृत्यु एक ऐसा शब्द है जिसके नाम से प्राणी भय खाता है। मृत्यु की अनिवार्य सच्चाई को जानते हुए भी व्यक्ति की चाह रहती है कि मृत्यु उसके पास न आए। भले वृद्धावस्था ने उसकी देह को जर्जरित कर दिया हो, भले बीमारी ने उसे क्षीणकाय कर दिया हो, भले ही वह जीवन की अंतिम सांसें ही क्यों न गिन रहा हो। जैसे-तैसे मौत को दूर धकेल सौ वर्ष जीने की चाह बनी रहती है। इस चाह से प्रेरित व्यक्ति अपनी उम्र को जानने के लिए कभी ज्योतिषियों की चरणरज जुहारता है, कभी देवी-देवताओं की मनौतियां करता है, कभी सिद्ध पुरुषों से वरदान की याचना करता है।

प्रकृति का नियम

प्रकृति मनुष्य की चाह के अनुसार नहीं, अपने नियम से चलती है। वह कब, किसे, कहां से उठाती है प्रायः खबर तक नहीं लगने देती। वह न बालक पर अनुकम्पा करती है न जवान पर। मृत्यु के आगे व्यक्ति के सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं। उसे मृत्यु की गोद में सोना ही पड़ता है। किसी कवि ने इस तथ्य को चार पंक्तियों में बहुत सुन्दर प्रस्तुति दी है—

स्वर्ण-भस्म के खाने वाले इसी घाट पर आए,
दाने बीन चबाने वाले इसी घाट पर आए।।
गगन-ध्वजा फहराने वाले इसी घाट पर आए,
बिना कफन मर जाने वाले इसी घाट पर आए।।

यह घाट और कोई नहीं, श्मशान घाट अथवा मृत्युघाट ही है जहां प्राणी ऐहिक शरीर से सदा के लिए सो जाता है। मृत्यु चूंकि एक अनिश्चितकालीन घटना है। भगवान महावीर ने एक सूत्र दिया—**समयं गोयम! मा पमायए।** गौतम! तुम क्षण भर भी प्रमाद मत करो। गौतम को प्रतीक बनाकर महावीर ने प्राणी मात्र को जागरूकता का सन्देश दिया। उन्होंने कहा—यह जीवन पके हुए वृक्ष की भांति कभी भी झड़ सकता है। ओस बिन्दु की भांति हवा के हलके से झोंके से कभी भी मिट्टी में मिल सकता है इसलिए इस जीवन को सफल बनाने के लिए हर क्षण जागरूक रहो।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो लगता है कि मनुष्य भौतिक सुख-सुविधाओं को जुटाने में जितना जागरूक है अध्यात्म के प्रति उतना ही अधिक लापरवाह है। वह पदार्थों की प्रचुरता में सुख और पदार्थों की अल्पता में दुःख की कल्पना करता है। इस कल्पना के आधार पर वह येन केन प्रकारेण अधिक से अधिक धन संग्रह करने में प्रयत्नशील रहता है। उसका यह प्रयत्न तब तक चालू रहता है जब तक उसके शरीर की शक्ति चुक न जाए। धार्मिक आचरण करने व अपने आपको जानने समझने के लिए उसके पास समय नहीं होता है अथवा बहुत कम होता है।

जब धर्माचरण के संबंध में सन्तजनों द्वारा व्यक्ति को प्रेरित किया जाता है तो कभी-कभी उसका उत्तर होता है कि धर्म अभी क्यों करें? जिन्दगी बहुत बाकी है। अभी तो पैसा कमाने के और ऐशोआराम से जिन्दगी बसर करने के दिन हैं। धर्म तो तब करेंगे जब रिटायर हो जाएंगे। इसी तथ्य को उजागर करने वाला एक सुन्दर व्यंग्य है जो इस मानवीय दुर्बलता को चित्रित करता है।

एक युवक संन्यासी के पास आया।

संन्यासी ने कहा—भाई! जीवन में कुछ धार्मिक आचरण किया करो। मनुष्य जीवन को व्यसनों में, ऐशोआराम में नहीं खोना चाहिए।

युवक ने कहा—महाराज! अभी तो मैं युवक हूं। पैसा कमाने के दिन हैं।

धर्म के लिए तो पूरी जिन्दगी पड़ी है। जब बूढ़ा हो जाऊंगा तब धर्म करूंगा।

बात करते-करते संन्यासी ने कहा—तुम किधर जा रहे हो?

वह बोला—महाराज! जीवन बीमा कराने जा रहा हूं।

संन्यासी—अभी तो तुम युवा हो फिर जीवन बीमा कराने की क्या जरूरत है?

युवक—महाराज! आजकल तो पग-पग पर खतरा है। न जाने कब मौत आ जाए? जीवन बीमा कराई हुई हो तो पीछे पत्नी एवं बच्चों को तकलीफ नहीं होगी, उन्हें रोजी-रोटी की चिंता नहीं करनी पड़ेगी।

संन्यासी—तुम भी अजीब आदमी हो। अभी तो कह रहे थे कि धर्म बुढ़ापे में करेंगे, अभी क्या जल्दी है और अभी कहने लगे कि जीवन का क्या भरोसा?

यह प्रसंग किसी एक युवक का नहीं अपितु आदमी की मनोवृत्ति का सही चित्रण करता है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार उसे अध्यात्म की ओर उन्मुख होने से रोकते रहते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति संसार की सीमा को बढ़ाता रहता है। एक तरफ व्यक्ति जानता है कि इस जिन्दगी का पलभर भी भरोसा नहीं है, दूसरी ओर धार्मिक आराधना के सन्दर्भ में उसका चिन्तन होता है आज नहीं कल करूंगा। कैसी विसंगति है?

आगम में कहा गया है—कल का भरोसा तीन व्यक्ति कर सकते हैं। एक वे, जो मौत के साथ अपनी दोस्ती मानते हैं। उन्हें भरोसा होता है कि दोस्ती के नाते मौत उन्हें नहीं ले जायेगी। दूसरे वे व्यक्ति होते हैं जो अपने आपको कुशल धावक मानते हैं। उन्हें विश्वास होता है कि मौत इस रास्ते से आयेगी तो मैं उस रास्ते से पलायन कर जाऊंगा। तीसरे वे व्यक्ति होते हैं जो अपने आपको अमर मानते हैं। उनके मन में दृढ़ निश्चय होता है कि मौत उन्हें कभी आएगी ही नहीं। पर काल का अन्तहीन प्रवास इस बात का साक्षी है कि मृत्यु ने आज तक न तो किसी के साथ दोस्ती की है, न कोई पलायन करने में सफल हुआ है और न कोई अमर बना है। देवों का एक पर्यायवाची शब्द है—अमर पर अमर वे भी नहीं रहते। एक दिन उनका भी अवसान होता है।

मृत्यु जब निश्चित है तो इसे कलात्मक कैसे बनाया जा सकता है? यह एक अहम प्रश्न है।

संथारा : आत्मरमण की स्थिति

जैनधर्म में संथारे की अवधारणा एक ऐसी प्रविधि है जिसे अपने आपमें महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस विधि से आकृष्ट होकर सन्त विनोबा ने कहा था कि मैं अपने शरीर का अन्त जैनधर्म में वर्णित अनशन/संथारे की विधि से करना चाहता हूं और उन्होंने वैसा ही किया। आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग कर देना और आत्म समाधि में लीन हो जाना कलात्मक मृत्यु की पूर्व तैयारी है। जैन वाङ्मय में साधु और श्रावक दोनों के लिए तीन-तीन मनोरथ बताए गए हैं जिनमें तीसरा मनोरथ है—देहासक्ति से मुक्त होकर मात्र आत्मकेन्द्रित हो जाना। इस प्रकार की मृत्यु को शुभ माना गया है। आत्मार्पण या आत्म समाधि में स्थित होने की यह प्रक्रिया (संथारा) घृणित आत्महत्या नहीं अपितु देहाध्यास से ऊपर उठकर आत्मस्थ होने की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। आत्महत्या का संबंध आवेग, आवेश, तनाव, कुंठा, घुटन या जिन्दगी से निराश, हताश होकर अविवेकपूर्ण उठाये हुए कदमों से हैं, जबकि संथारा पूरे होश-हवाश के साथ जागरूक अवस्था में मौत से भयभीत न होकर प्रसन्नचित्त से आत्मरमण करने की स्थिति है। इसमें न जीने से ऊब है न मृत्यु से मोह है। यह जीने और मरने की कामना से ऊपर उठने की स्थिति है।

संथारा क्यों स्वीकार करना चाहिए? इस सन्दर्भ में आगम-साहित्य में स्पष्ट निर्देश दिया गया है—इस लोक में प्रतिष्ठा होगी इसलिए संथारा नहीं करना चाहिए। परलोक में प्रतिष्ठा होगी इसलिए संथारा नहीं करना चाहिए। जीवन की आकांक्षा से संथारा नहीं करना चाहिए। मरने की आकांक्षा से संथारा नहीं करना चाहिए। प्रत्युत अनशन करना चाहिए एकमात्र समाधिपूर्वक मौत को स्वीकार करने की दृष्टि से। संथारा कब करना चाहिए? यह विवेक देते हुए आर्षवाणी में कहा गया—जब तक यह शरीर आत्म साधना में सहायक हो, तब तक इसे पोषण दिया जाए, इसकी सार-सम्भाल की जाए। जब यह लगे कि इस शरीर की शक्ति चुक गई है, इन्द्रियां शक्तिहीन हो गई हैं। कोई भी चिकित्सा काम नहीं कर रही है। उस स्थिति में आत्मबल को टटोलकर आत्मानुभूति में अपने आपको नियोजित कर संथारा स्वीकार करना चाहिए।

यह भी विशेष स्थिति के सिवाय एकाएक नहीं, क्रमिक अभ्यास करते हुए करना चाहिए। क्रमिक अभ्यास के लिए जैन परम्परा में संलेखना विधि प्रतिपादित है। उसके अन्तर्गत आहार का अल्पीकरण और कषाय का कृशीकरण निर्दिष्ट है। यह है मृत्यु की कला। कलात्मक जीवन जीते हुए व्यक्ति कलात्मक मृत्यु के दर्शन को समझे और उससे अभय बनकर अपनी हर सांस को सफल बनाए, यह काम्य है।

१२
उसके लिए सुगति सुलभ है

पुनर्जन्म में विश्वास करने वाला आदमी परलोक में भी अपनी सद्गति की कामना रखता है। दसवेआलियं सूत्र में सद्गति के उपायों का निर्देशन किया गया है—

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमई खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुग्गई तारिसगस्स।।

जो श्रमण तपोगुण प्रधान, ऋजुमति, क्षान्ति तथा संयम में रत और परीषहों को जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है।

तपोगुण-प्रधानता

सद्गति की पहली कसौटी है तपोगुण-प्रधानता। तपस्या करने वाला आदमी आत्मा को शुद्ध करता है, पूर्व कर्मों का निर्जरण करता है। उसके साथ वह पुण्य का बंध भी करता है। वह उसकी सद्गति का एक कारण बनता है। निराहार रहना भी तपस्या है। अनेक व्यक्ति अनेक दिनों तक आहार और पानी के बिना रह जाते हैं किन्तु यह सबके लिए सम्भव नहीं। लम्बी तपस्या अथवा उपवास न भी हो तो ऊनोदरी तप आराम से किया जा सकता है। भोजन आदि में अल्पता रखना ऊनोदरी है। स्वाध्याय, ध्यान भी तप के ही प्रकार हैं। वे भी सद्गति के कारण बनते हैं। आप्तवाणी में तपस्या के कुल बारह प्रकार बताए गए हैं। आदमी को सामर्थ्य और विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, विवेकपूर्वक अपने आपको तपस्या में नियोजित करना चाहिए।

ऋजुता

सद्गति की दूसरी कसौटी है ऋजुता। निश्छल व्यक्ति सद्गति का अधिकारी बनता है। कहा जाता है कि ईसा मसीहा से पूछा गया—ईश्वर के

साम्राज्य में प्रवेश किसे मिल सकता है? उन्होंने एक बच्चे की ओर इंगित करते हुए कहा कि जिसका मन इस बच्चे के मन की भांति सरल और पवित्र है वही व्यक्ति ईश्वर के साम्राज्य में प्रविष्ट हो सकता है। छलना आदमी को तनावयुक्त बनाती है और निश्छलता तनाव-मुक्ति का कारण है किन्तु आदमी छलना करना सीख जाता है। कुछ व्यक्ति ज्ञानसम्पन्न होते हुए भी निश्छलता को सुरक्षित रख लेते हैं। एक बार गुरुदेव श्री तुलसी ने संतों से कहा—बताओ संतो! अवस्था वृद्धि के साथ विकास किस चीज का होता है और ह्रास किस चीज का होता है? एक सन्त उठे और उन्होंने कहा—पूज्यवर! अवस्था वृद्धि के साथ ज्ञान का विकास होता है और सरलता का ह्रास होता है। उत्तर समीचीन था। निःसन्देह सरलता एक विशिष्ट गुण है। सरलता का अर्थ है भीतर और बाहर की एकरूपता का होना, कथनी और करनी में भेद न होना। एक बार एक व्यक्ति को बेकार घूमते-फिरते देखकर एक धनी व्यक्ति ने उसे अपने बाग की रखवाली करने का काम सौंपा। वह बहुत खुश हुआ। वह व्यक्ति कई वर्षों तक मेहनत व ईमानदारी से काम करता रहा।

एक बार धनी व्यक्ति के घर कुछ अतिथि आए। धनी व्यक्ति ने उस व्यक्ति को कुछ मीठे आम लाने के लिए कहा। वह व्यक्ति आम उन्हें दे आया। जब अतिथियों ने आम खाए तो सारे खट्टे निकले। धनी व्यक्ति बहुत नाराज हुआ और बोला—क्या तुम्हें खट्टे व मीठे आमों की पहचान नहीं है? बाग के रखवाले ने कहा—मुझे इस बारे में कुछ भी मालूम नहीं। धनी व्यक्ति ने जब कारण पूछा तो उसने कहा—मैंने आज तक एक भी आम नहीं चखा। फिर जब धनी व्यक्ति ने कारण पूछा तो वह कहने लगा—हुजूर! आपने मुझे आज तक आम खाने के लिए नहीं कहा।

इस पर धनी व्यक्ति ने कहा—तुम सारे दिन बगीचे में रहते हो, तुम जब चाहते आम खा सकते थे। इस पर मेरे कहने न कहने की क्या बात है? रखवाले ने कहा—आपने मुझे रखवाली के लिए रखा है। मैं दूसरों को चोरी करने नहीं देता तो खुद कैसे करता? बिना आपकी आज्ञा के तो यह चोरी कहलाएगी। यही व्यक्ति आगे चलकर महात्मा इब्राहिम के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जिस व्यक्ति में सरलता का वास होता है वह औरों के दिलों में अपना स्थान बना लेता है किन्तु इसको अपनाना सबके लिए आसान काम नहीं है।

छोटा बच्चा भी धोखे की बात सीख लेता है।

मां ने छोटे बच्चे से कहा—अपने रसोईघर में जितने डिब्बे हैं उन पर 'किसमें क्या है' चिट लगा दो ताकि चीज आसानी से मिल सके। बच्चे ने बड़ी तत्परता से मां के आदेश का पालन कर दिया। अगले दिन मां को रसोई बनाने के लिए नमक की जरूरत पड़ी। उसने डिब्बा खोला तो उसमें चीनी निकली। मां बोली—बेटे! यह क्या किया? चिट तो नमक की लगाई है जबकि इसमें तो चीनी है। तत्काल बच्चा बोला—मां! यह तो मैंने जान-बूझकर चींटियों को धोखा देने के लिए चीनी के डिब्बे पर नमक लिखा है।

आज सबसे बड़ी चिंता की बात यह है कि सरलता के प्रति मनुष्य की आस्था भी नहीं रही है क्योंकि यह आम धारणा बनती जा रही है कि मनुष्य को अधिक सरल नहीं होना चाहिए। जो सरल होता है उसका दुरुपयोग होता है। उसे कदम-कदम पर धोखा खाना पड़ता है। यह विचार परिस्थिति-सापेक्ष हो सकता है पर अध्यात्म के क्षेत्र में इसका कोई मूल्य नहीं है। अध्यात्म की भाषा में व्यक्ति यदि किसी दूसरे को धोखा देता है तो वह दूसरे को नहीं, स्वयं को ही धोखा देता है। स्वयं के ही पतन का रास्ता खोलता है।

भगवान महावीर का यह प्रेरक सूत्र इसी तथ्य को अभिव्यंजित करता है—**पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।**

क्षमा

सद्गति की तीसरी कसौटी है क्षमा। क्षमा क्रोध का प्रतिपक्षी है। क्रोध आग है तो क्षमा उस आग को शांत करने वाला शीतल चन्दन है। कहा जाता है कि लोहे की कड़ाही में उबलते हुए एक मन तेल को दो रत्ती बावना चन्दन ठण्डा कर देता है। वैसे ही क्रोध की आग को क्षमा का बावना चन्दन मिल जाए तो वह शान्त हो सकता है। क्रोध से होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए आचार्य सोमप्रभसूरि कहते हैं—क्रोध संताप को बढ़ाता है, विनय का भेदन करता है, सौहार्द को तोड़ता है, उद्वेग को जन्म देता है, असम्यक् बोलने हेतु प्रेरित करता है, कलह को बढ़ाता है, कीर्ति को विनष्ट करता है, मति को कुत्सित करता है, पुण्योदय को समाप्त करता है और कुगति को देने वाला है। ऐसा क्रोध सज्जन पुरुषों द्वारा त्याज्य है। क्रोधी व्यक्ति अपने चारों ओर दुश्मनों की भीड़ एकत्रित कर लेता है। क्रोध करना आसान है, क्षमा करना कठिन है।

सामने वाले व्यक्ति को उत्तेजित देखकर स्वयं उत्तेजित होना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है उस समय क्षमा का, सहिष्णुता का परिचय देना। इसलिए क्षमा को वीरों का भूषण कहा गया है। धर्म के चार द्वारों में क्षमा को प्रथम द्वार माना गया है। क्षमा सामूहिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। राजा ने वृद्ध मंत्री से पूछा—तुम्हारे एक ही चूल्हे पर पचास व्यक्ति खाना खाते हैं, यह कैसे सम्भव है? वृद्ध मंत्री ने कहा—राजन! हमने सहना सीखा है। जो व्यक्ति सहना सीख लेता है। वह इस जन्म में भी सुख पाता है और उसकी अगली गति भी अच्छी होती है।

संयम

सद्गति की चौथी कसौटी है संयम। असंयम के दुष्परिणामों से आज कोई भी समाज, राष्ट्र अपरिचित नहीं है। समस्याओं के मूल में असंयम ही है। ज्यों-ज्यों आकांक्षाओं का विस्तार हुआ है त्यों-त्यों मानवीय मूल्यों का पतन हुआ है, अध्यात्म का ह्रास हुआ है और मानव मन की शान्ति भंग हुई है। आज बहुत कुछ प्राप्त करके भी मनुष्य बेचैन है। एक समय था जब सीमित पदार्थों का भोग करता हुआ भी व्यक्ति सुखी था और आज पदार्थों की भीड़ के बीच जीता हुआ भी व्यक्ति अशान्त है, क्यों? उत्तर स्पष्ट है—संयम में सीमा है। असंयम में कोई सीमा नहीं है। आज मनुष्य वैभव की अंधी दौड़ में प्रतियोगी बना हुआ है। अपेक्षित है **संयम ही जीवन है**—अणुव्रत के इस घोष को आत्मसात करने की। यदि मनुष्य सुख की सांस लेना चाहता है तो उसे संयम की शरण स्वीकार करनी होगी। इसके बिना उसका कोई शरण, त्राण और द्वीप नहीं है। मन, वचन व काया—इन तीनों की प्रवृत्ति को जो संयत रखना जानता है, सद्गति स्वयं उसका वरण कर लेती है।

परीषहजय

सद्गति की पांचवीं कसौटी है परीषहजय। परीषहजयी होना दृढ़ मनोबल और प्रबल आत्मबल से ही सम्भव है। योद्धा संग्राम में जाता है। **Do or Die** (करो या मरो) की भावना के साथ युद्धभूमि में डटा रहता है तो वह स्तुत्य होता है, प्रशंसा का पात्र होता है। युद्धभूमि के नाम से ही जिसके हाथ-पैर कांपने लग जाते हैं, शरीर श्लथ हो जाता है, मन आहत हो जाता है, वह या तो वहां जाने का साहस ही नहीं करता। यदि देश, काल, परिस्थिति के

हाथों विवश होकर चला भी जाता है तो रणभेरी बजते ही इधर-उधर बगलें झांकने लगता है और मौका मिलते ही युद्धभूमि से पीठ फेर लेता है। वह कायर और भगौड़ा कहलाता है तथा अपमान-पात्र बन जाता है।

हम लोग दिल्ली से विहार कर नोएडा (उत्तर प्रदेश) गए। उस समय करगिल का संघर्ष चल रहा था। एक सैनिक हमारे पास आया। उसने कहा—युद्ध हो तो बड़ा अच्छा हो। हमने पूछा—क्यों? उसने कहा—हमारी वीरता को प्रदर्शित करने का यही तो अवसर होता है। युद्ध में लड़ते हुए हमारे प्राण भी चले जाएं तो कोई दुःख नहीं होगा बल्कि वह क्षण हमारे लिए गौरवमय होगा जिस वक्त देश-सेवा में इन तुच्छ प्राणों की भेंट होगी।

साधु जीवन भी एक प्रकार का संग्राम है। अपेक्षित है साधु परीषह के संग्राम में अपने मनोबल को बनाए रखे, पीछे न हटे। साधु पादविहारी होते हैं। गांव-गांव में जाते हैं। विभिन्न जाति और वर्ग के लोगों के बीच जाते हैं। सब जगह अनुकूलताएं नहीं मिलतीं। कहीं स्थान की प्रतिकूलता मिलती है, कहीं क्षुद्र जीव-जन्तुओं का उपद्रव होता है, कहीं हिंसक पशुओं का आतंक होता है, कहीं प्यास का परीषह होता है, कहीं गर्मी-सर्दी आदि ऋतुजनित बाधाएं आती हैं। इन सभी परीषहों को कर्म-निर्जरा का हेतु मानकर जो साधक सहन करता है वह योद्धा की तरह परीषह के संग्राम में विजयी बन जाता है। ऐसे साधु इहलोक और परलोक में यशस्वी बनते हैं। साधु की भांति गृहस्थ भी अपनी भूमिका में परीषह जय कर सकते हैं।

सुगति की इन पांच कसौटियों की मैंने चर्चा की है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का ऊर्ध्वारोहण करने के लिए इन तुलाओं से अपने आपको तोले, अपनी परीक्षा करे तथा शुद्ध और पवित्र बनकर अपनी लक्षित मंजिल को पाए—यही अभीष्ट है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

–: प्राप्ति स्थान :–

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

जिनका चिन्तन
चित्त को प्रसन्नता और
चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

भीतर पढ़ें

जीना एक कला है
जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि
कैसे चलें ?
कैसे बैठें ?
कैसे सोएं ?
कैसे खाएं ?
कैसे बोलें ?
कैसे सहें ?
सोच को प्रशस्त बनाएं
बुढ़ापा वरदान कैसे बने ?
मरने की कला
उसके लिए सुगति सुलभ है

9 788171 950751
₹ 30